महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखंड विश्वविद्यालय की पाठ्य पुस्तक
बी. ए. प्रथम वर्ष (हिन्दी भाषा) प्रथम प्रश्न पत्र

संपादन डॉ. शंकर लाल शर्मा

भाषा

प्रकृति, स्वरूप और ऐतिहासिक परिदृश्य

डॉ. रामप्रकाश, डॉ. दिनेश गुप्त

भाषा

प्रकृति, स्वरूप और ऐतिहासिक परिदृश्य

डॉ. रामप्रकाश
डॉ. दिनेश गुप्त

सम्पादन
डॉ. शंकर लाल शर्मा

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

मूल्य : 40.00 रुपये

पहला संस्करण : 2008

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001

वेबसाइट : www.rajkamalprakashan.com
ई-मेल : info@rajkamalprakashan.com

बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032
द्वारा मुद्रित

आवरण : राजकमल स्टूडियो

ISBN : 978-81-267-1650-0

अनुक्रम

भाषा : प्रकृति और स्वरूप	7
हिन्दी भाषा का विकास	37
भारतीय पुनर्जागरण काल में खड़ी बोली हिन्दी	105
देवनागरी लिपि और अंक	163

भाषा : प्रकृति और स्वरूप

हिंदी भाषा के प्रयोग के विविध रूप

भाषा निरंतर प्रयोग के सहारे जीवित रहती है, विकसित और पल्लवित होती है। भाषा का मूल प्रकार्य है–संप्रेषण। संप्रेषण की पूर्णता पारस्परिक संलाप द्वारा ही सम्भव है। यह संलाप किसी व्यक्ति द्वारा अकेले न होकर, अपने ही वर्ग, समुदाय या क्षेत्र के अन्य व्यक्तियों के साथ होता है। संलाप में सदा एकरूपता सम्भव नहीं। **व्यक्ति, स्थान संदर्भ और विषय के अनुसार एक ही भाषा का प्रयोग** विभिन्न रूपों में संभव है। इस प्रकार, भाषा के गतिचक्र की धुरी 'प्रयोग' है। जैसे किसी यन्त्र के निरन्तर प्रयोग में न रहने पर, उसमें मोरचा (जंग) लग जाता है, उसकी कार्यक्षमता और गतिशीलता अवरुद्ध हो जाती है, वैसे ही **प्रयोग के अभाव में भाषा किसी गड्ढे में ठहरे जल के समान धीरे-धीरे सूखकर समाप्त हो सकती है।** प्रयोग की खराद पर चढ़कर ही भाषा निखरती, संवरती और वैविध्य का वरण करती है।

भाषा-प्रयोग के विभिन्न स्तर और सन्दर्भ सम्भव हैं। एक व्यक्ति किसी नगर का बहुत बड़ा व्यापारी है। वह प्रायः मिली-जुली भाषा (हिंदुस्तानी) के प्रयोग का अभ्यस्त है; क्योंकि समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों से उसका सम्पर्क बना रहता है। फिर भी उसके भाषा-प्रयोग में विविधता देखी जा सकती है। उदाहरणतः–

(1) (अपने ही वर्ग के व्यापारी से)–देखो भाई, अपना तो एक उसूल है–कम कमाई, खरी कमाई। माल लायेंगे बढ़िया, दाम लेंगे बढ़िया!

(2) (अपने मुनीम (अकाउंटेंट) से)–अरे तुम उसूल को मारो गोली! ऐसा अकाउंट तैयार करो कि आमदनी कम और खर्च अधिक दिखायी दे!

(3) (आयकर अधिकारी से)–हुजूर! मेरा बिजनेस तो शीशे की तरह साफ है। रिकार्ड देख लीजिए, निश्चित मियाद से पहले ही हमारी रिटर्न जमा हो जाती है। रिटर्न और अकाउंट बुक्स में कभी एक पैसे का फर्क नहीं मिलेगा। सेल्ज टैक्स

भी सदा समय पर जमा करा देता हूँ। हुजूर, आपने जो एसेसमेंट की है वह तो बहुत ज्यादा है। जरा फिर से गौर फरमाने की कृपा करें।

(4) (पत्नी से)—अजी! सुनती हो, उस आई.टी.ओ. के बच्चे को आज मैंने ऐसा मस्का लगाया, ऐसा उल्लू बनाया कि देखता ही रह गया। बच्चू को उसी वक्त एसेसमेंट काटकर आधी करनी पड़ी। बिजनेस चलाना मज़ाक नहीं। तिकड़म चाहिए और चाहिए दिमाग!

(5) (विद्यालय के वार्षिकोत्सव पर अध्यक्ष-पद से)—आदरणीय प्राचार्य महोदय, अध्यापक महानुभाव और प्यारे विद्यार्थियो! आप लोगों ने मुझे यहाँ आमंत्रित कर जो सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आप सबका हृदय से आभारी हूँ। मैं शिक्षा के सिद्धान्तों से अपरिचित हूँ। बस, इतना कह सकता हूँ, आप ही हमारे समाज के, देश के निर्माता हैं, कर्णधार हैं। आज का कार्यक्रम देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। हमारे बच्चे जिस प्रकार सत्य, न्याय और आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ रहे हैं, यह हमारे लिए, सारे देश के लिए गौरव की बात है। मैं यहाँ के प्रिंसिपल महोदय व अन्य अधिकारियों को पुनः बधाई देता हूँ।

(6) (अपने छोटे पुत्र से)—क्यों बे! मेरी आँखों में धूल झोंकता है! स्कूल में पढ़ने जाता है कि ड्रामा करने? बड़ा आया हीरो कहीं का! कोई पैसा नहीं मिलेगा! ये मास्टर लोग भी आये दिन बच्चों के माँ-बाप को लूटने के लिए कोई-न-कोई तमाशा करते रहते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में भाषा-प्रयोग की विविधता स्पष्ट है। ये सभी भाषा के **'सामान्य प्रयोग'** के उदाहरण हैं; क्योंकि इनमें भाषा का असामान्य (अशुद्ध, प्रतीकात्मक या आलंकारिक) प्रयोग नहीं किया गया।

सामान्य प्रयोग

भाषा के सभी बहुप्रचलित प्रयोग उसके सामान्य प्रयोग हैं। भाषा के प्रायः जिस रूप का हम अपने विचार-विमर्श, कार्य-व्यवहार एवं वार्तालाप-संभाषण आदि में प्रयोग करते हैं वह उसका 'सामान्य' रूप ही होता है। वह व्याकरण-सम्मत, समाज द्वारा स्वीकृत एवं संरचना और अर्थ के स्तर पर सामान्यतः शुद्ध होता है। 'असामान्यता' अर्थात् अनोखापन, नयापन या विलक्षणता उसमें तभी होगी जब किसी शब्द का उससे प्रचलित अर्थ से हटकर, किसी 'नवीन अर्थ' में प्रयोग किया जाए (जैसे साहित्य में), किसी वाक्य का गठन व्याकरण-सम्मत नियमों से भिन्न किसी अन्य प्रकार से हो (जैसे काव्य की लाक्षणिक भाषा में) या कोई ऐसा प्रयोग जो हमारे

तात्पर्य का सम्यक् सम्प्रेषण न करा सके (जैसे किसी एक विषय की शब्दावली का प्रयोग अन्य विषय में)। इन व्यवधानों से मुक्त अर्थात्–(1) **व्याकरणसम्मत, (2) समाजस्वीकृत, (3) प्रायः शुद्ध एवं (4) तात्पर्य (प्रयोजन) के सम्प्रेषण में समर्थ भाषा-प्रयाग 'सामान्य' ही कहलायेगा** चाहे उसकी शब्दावली कैसी भी हो; वक्ता और श्रोता किसी भी सामाजिक वर्ग से सम्बन्धित हों; अथवा भाषा-प्रयोग का कोई भी सन्दर्भ हो। पत्र-पत्रिकाओं में, विद्यालय या विश्वविद्यालय के कक्षा-कक्षों में, दूरदर्शन और आकाशवाणी में, धर्म-चर्चा या चुनाव-चर्चा में, घर-बाजार या बस-रेलयात्रा में, मिल-मजदूरों की किसी गोष्ठी अथवा किसानों की चौपाल में, बच्चों के क्रीड़ांगन में या युवकों के आलाप-संलाप में–सर्वत्र भाषा का सामान्य प्रयोग ही देखा-सुना जाता है। इसके लिए वक्ता-श्रोता को किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। परम्परा, संस्कार और अभ्यास द्वारा स्वतः ही भाषा के सामान्य प्रयोग की दक्षता का विकास होता रहता है।

श्रमिकों, व्यापारियों, वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों, राजनैतिक नेताओं, छात्रों, अध्यापकों तथा घर-परिवार और समाज के विभिन्न घटकों (सदस्यों) की भाषा अपने-अपने क्षेत्र में सन्दर्भ और स्तर में 'सामान्य' ही होती है।

असामान्य प्रयोग

'असामान्य' शब्द 'सामान्य' का विपरीतार्थी है। 'सामान्य' का अभिप्राय है परम्परागत, बहुप्रचलित एवं प्रायः व्याकरण-सम्मत। इसी सन्दर्भ में 'भाषा के असामान्य प्रयोग' का अभिप्राय है–उसके बहुप्रचलित, समाज-स्वीकृत, परम्पराबद्ध और व्याकरण-सम्मत रूप से हटकर, उससे भिन्न रूप में किया गया प्रयोग। इस प्रकार का प्रयोग जो कथन में निहित कथ्य का सहज रूप से सम्प्रेषण न करा सके। पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार हम अपने विचार-विमर्श, कार्य-व्यवहार, आलाप-संलाप और सम्भाषण आदि में प्रायः भाषा का 'सामान्य' प्रयोग ही करते हैं। उदाहरणतः–

(क) मैं जब स्टेशन पर पहुँचा, तब गाड़ी छूट चुकी थी।

(ख) यहाँ हर वस्तु का भाव चार रुपये किलो है। जो चाहिए ले जाइए।

(ग) मोटर की स्पीड जरा कम रखो, रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़ है।

(घ) हमें केवल स्वार्थ की चिन्ता न करके, उन लोगों के सम्बन्ध में भी सोचना चाहिए जिनकी आवश्यकताएँ हमसे अधिक हैं, किन्तु जिन्हें सुविधाएँ हमसे कम प्राप्त हैं।

उपर्युक्त चारों उदाहरणों में भाषा का 'सामान्य' प्रयोग हुआ है क्योंकि इनमें कथित प्रयोजन का सम्प्रेषण सहज रूप से हो सकता है। ये प्रयोग परम्परागत और सर्वमान्य हैं, इनमें व्याकरणिक संरचना का सही रूप दिखायी देता है, अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से यह व्यवस्थाबद्ध कथन है। इसके विपरीत इन्हीं प्रयोजनों के निमित्त निम्नलिखित प्रकार की भाषा का प्रयोग 'असामान्य' होगा–

(क) मैं जब स्टेशन पर **चला** तब गाड़ी उड़ चुकी थी।

(ख) **वस्तु जो चार है हर भाव का रुपये किलो यहाँ ले चाहिए जाइए।**

(ग) मोटर की स्पीठ **तेज कर दो,** रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़ है।

(घ) **हमारे को चिंता स्वार्थ की न करके वह** लोगों के **संबंधित** में भी सोचना चाहिए, **सभी की** आवश्यकताएँ हमारे से अधिक **थी ताकि वह को सुविधाएँ** हमारे से कम प्राप्त हुई।

यहाँ पहले वाक्य में 'स्टेशन पर चला' और 'गाड़ी उड़ चुकी थी' असामान्य प्रयोग हैं। 'स्टेशन **की ओर** चला' या 'स्टेशन पर पहुँचा' **परंपरासम्मत** हैं। गाड़ी **उड़ती** नहीं, **चलती** है।

दूसरे वाक्य में भाषा का **अव्यवस्थिति** प्रयोग होने के कारण **'असामान्य'** है। न तो कर्त्ता-कर्म-क्रिया की नियमित व्यवस्था है न विशेषण-विशेष्य क्रमानुसार व्यवस्थित हैं। योजक अव्ययों तथा कारक विभक्तियों का प्रयोग भी अव्यवस्थित है।

तीसरे वाक्य में **प्रयोजन (तात्पर्य) की असंगति के कारण** असामान्यता है। कार्य (स्पीड तेज करना) और कारण (रास्ता ऊबड़-खाबड़ होना) में संगति नहीं है। 'तेज' के स्थान पर 'कम' या 'ऊबड़-खाबड़' के स्थान पर 'साफ-समतल' प्रयोग सामान्य होता।

चौथे उदाहरण में **व्याकरणिक नियमों का पालन न होने के कारण** तो भाषा-प्रयोग 'असामान्य' है ही, सर्वमान्यता की अनुरूपता का न होना भी इसे 'असामान्य प्रयोग' बना देता है। 'वह लोगों', 'आवश्यकताएँ थीं', 'सुविधाएँ हुई' इनमें वचन की असमानता है। 'हमारे को', 'हमारे से' आदि अमान्य प्रयोग हैं। 'उन' के साथ 'जिन' संबंधवाचक सर्वनाम का और 'ताकि' के स्थान पर 'किंतु' योजक अव्यय का प्रयोग नियमानुकूल होता जो यहाँ नहीं है।

सामान्य एवं असामान्य प्रयोग में अंतर

भाषा के 'सामान्य' और 'असामान्य' प्रयोग का अन्तर एक रूपक द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। भाषा का सामान्य प्रयोग किसी खिड़की के उस साफ-सुथरे,

अखण्डित, पारदर्शी शीशे के समान है जो अपने पीछे के सम्पूर्ण अर्थ-जगत् की झाँकी स्पष्ट दिखला देने में सक्षम है। दूसरी ओर 'असामान्य प्रयोग' उस खण्डित शीशे के समान है जिसमें जगह-जगह आड़ी-तिरछी दरारें होने के कारण, वह केवल छोटे-बड़े टुकड़ों के ढेर-सा प्रतीत होता है और उसके माध्मय से पार के वस्तु-जगत् (अर्थ-प्रयोजन) को स्पष्टतः देख और पहचान पाना संभव नहीं हो पाता।

भाषा के 'असामान्य' प्रयोग का अभिप्राय केवल यही है कि उसमें लोकपरम्परा, सर्वमान्य नियमित व्यवस्थाबद्धता तथा प्रचलित व्याकरणिक संहिता का अनुसरण न होने के कारण एक विलक्षणता, असंगति और विपरीतता-सी प्रतीत होती है। यही 'असंगति' प्रयोग के स्तर पर 'अशुद्धि' कहलाती है; अतः भाषा-प्रयोग में अन्तर्गत अशुद्धियों के विभिन्न संदर्भों तथा उनके निराकरण के प्रति सजगता वांछनीय है।

इसी प्रकार विषयवस्तु, अवसर, क्षेत्र और ज्ञान-विज्ञान के आधार पर भाषा के प्रयोग में विविधता आ जाती है। एक डॉक्टर जिस तरह से अपने सहयोगियों, तकनीशियनों और रोगियों से विभिन्न रोगों और उसके उपचार के लिए जिस तरह की भाषा का प्रयोग करता है, उसी प्रकार को वैज्ञानिक या प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ अपने-अपने क्षेत्र और विषय को लेकर भिन्न भाषा प्रयोग का उपयोग करते हैं। जनसंचार के क्षेत्र से जुड़े लोग और कार्यालय और प्रशासन से जुड़े लोग अपने-अपने क्षेत्र और विषयवस्तु के बिल्कुल भिन्न प्रकार से उसी भाषा में अभिव्यक्त करते हैं जिस तरह अध्यापक और निर्देशक या दिग्दर्शक अपने विद्यार्थियों या प्रशिक्षुओं को किसी विषय की जानकारी देना चाहेगा और उनसे प्रतिउत्तर चाहेगा ठीक उसी प्रकार कला और संस्कृति से जुड़े लोग अपने-अपने विषय को भिन्न तरह से अभिव्यक्ति दे पाते हैं। कहीं औपचारिकता होगी कहीं औपचारिकता, कहीं सामान्य रूप होगी कहीं व्यावहारिक तो कहीं कानून और तकनीकी भाषा रूप का अनुभव मिलेगा। इसका मतलब साफ है कि भाषा चाहे एक ही (हिंदी) क्यों न हो, उसके प्रयोग के स्तर प्रकृति और स्वरूप में हमेशा अन्तर आता जाता है।

भाषा और समाज

भाषा प्रयोग के विभिन्न स्तरों और स्वरूप के संदर्भ में इस तथ्य्य को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि कोई भी भाषा किसी-न-किसी समाज और जनसमुदाय के भीतर ही जन्म लेती है और विकसित भी होती है। इसे दूसरी तरह यूँ भी कहा जा सकता है कि भाषा और समाज का संबंध अभिन्न है, एक सिक्के के दो पहलुओं जैसा है या फिर दोनों का संबंध पूर्वापर का है।

हर तरह के समाज और भाषा-भाषियों के बीच भिन्न-भिन्न भाषा रूपों का विकास होता है। हिन्दी भाषा के इतिहास की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि संस्कृत से हिन्दी खड़ी बोली तक की यात्रा कोई आसान और सपाट नहीं रही। संस्कृत के उपयोग और बोलने वालों के भेद तथा व्यवहार-भेद के कारण वैदिक और लौकिक संस्कृत के स्वरूप और वर्गीकरण से हम अपरिचित नहीं हैं। उसके बाद 'पालि' और 'प्राकृत' भाषा स्वरूप की व्युत्पत्ति और विकास का कारण भी उसका प्रयोक्ता समाज रहा है। लौकिक संस्कृत बोलने वाले समाज के भीतर से ही समय के अन्तराल के कारण ऐसे लोग उभरने लगे थे जिन्होंने लौकिक संस्कृत के शब्द रूप, व्याकरण और पदों के साथ-साथ थोड़ा भिन्न भाषा रूप अपनाना शुरू कर दिया वही आगे चलकर पालि और प्राकृत भाषा-रूप में परिवर्तन हो गया। भाषा के प्रयोग करने वालों के कारण और समय तथा परिस्थिति और सभ्यता-संस्कृति आचार व्यवहार के वदलाव ने ही 'अपभ्रंश' अवहट्ठ और 'पुरानी हिन्दी' कहे जाने वाले भाषा रूप को जन्म दिया। उसके बाद हिन्दी की बोलियों और उपभाषाओं का उभर कर आना और समाज-व्यवहार का साधन बनना इसी अभिन्न और अनिवार्य संबंध का परिचायक है। जिसे कबीर ने 'बहते नीर' की संज्ञा देकर भाषा और समाज की अनिवार्यता के रूप में संकेतिक किया है।

भाषा और समाज के इस स्वरूप को हम आज के प्रयोग-बहुलता के युग में विषय-क्षेत्र की विविधता और संश्लिष्टता के रूप में भी समझ सकते हैं। ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार, कानून और प्रौद्योगिकी की विविधता के साथ-साथ वाणिज्य-व्यापार के बढ़ते हुए प्रभाव ने भाषा और उसके प्रयोक्ताओं के अन्योन्याश्रित सहज संबंध को स्थापित किया है। आज के बाजारवाद के युग में मानव समुदाय और संस्कृति में नए-नए शब्दों, पदों और क्रिया रूपों का प्रयोग-प्रचलन बढ़ा है। अंगरेज़ी भाषा के प्रयोग में तो विविधत आयी ही है पर, साथ ही, हिन्दी के शब्द-भंडार वाक्य-संरचना और भाषा-व्यवहार में अनेक प्रकार के विकास हो रहे हैं। जिस प्रकार पहले 'कूट संदेश' भेजने के लिए किसी-न-किसी 'कोड', भाषा का उपयोग होता था—चाहे वह सैनिक अधिकारियों की आवश्यकता हो या क्रान्तिकारियों और स्वतन्त्रता सेनानियों की विचार आदान-प्रदान की आवश्यकता हो उनके भाषा-प्रयोग सर्वथा भिन्न और निश्चित तथा रूढ़ होते थे। उसी प्रकार आजकल सरल-मोबाइल-संदेश (एस. एम. एस.) और इंटरनेट के युग में ईमेल और कम्प्यूटर पर चैटिंग की भाषा में पर्याप्त विविधता आयी है।

इससे यह तथ्य सामने आया कि जनसमुदाय, विषय-वस्तु, प्रयोग-व्यवहार

उद्देश्य और प्रयोजनीयता ने भाषा और समाज के अनिवार्य प्रश्न को सहज रूप में परिभाषित कर दिया है।

भाषा और बोली में अन्तर

'भाषा' और 'बोली' के स्वरूप को दृष्टिगोचर रखकर, इन दोनों के अन्तर को सरलता से समझा जा सकता है। **''मानक भाषा किसी देश अथवा राज्य का वह प्रतिनिधि और परिनिष्ठित माध्यम होता है जिसका उपयोग वहाँ के शिक्षित-शिष्ट समुदाय द्वारा अपने शैक्षणिक, साहित्यिक, वाणिज्यिक, प्रशासनिक और सामाजिक-सांस्कृतिक कार्य-कलाप के माध्यम के रूप में किया जाता है।''** दूसरी ओर, **''किसी एक सीमित क्षेत्र में जन-सामान्य द्वारा आपसी बोलचाल में प्रयुक्त होने वाला माध्यम 'बोली' कहलाता है।''** इस दृष्टि में 'भाषा' और 'बोली' में प्रमुखतया निम्निलिखित विभेदक रेखाएँ अंकित की जा सकती हैं—

(1) 'भाषा' विकास-प्रक्रिया का चरम (उच्चतम) रूप होता है। एक क्षेत्र की अनेक बोलियों में से ही कोई एक बोली सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों से विकसित होकर क्रमशः उपभाषा-विभाषा और अन्त में परिनिष्ठित (मानक) भाषा बन जाती है।

इसके विपरीत 'बोली' किसी भी भाषा की प्रारंभिक बोलचाल की अवस्था होती है। उसे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, साहित्यिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक दर्जा प्राप्त नहीं होता।

(2) 'भाषा' का भौगोलिक क्षेत्र विस्तृत होता है जबकि 'बोली' का बहुत सीमित। कारण यह है कि भाषा अपने क्षेत्र के सभी अंचलों के अतिरिक्त आसपास के क्षेत्रों से भी सम्पर्क का माध्यम होती है, किंतु 'बोली' केवल अपने अंचल में ही व्यवहार में लाई जाती है।

(3) 'भाषा' व्याकरण-सम्मत और प्रायः पूर्णतः शुद्ध होती है। 'बोली' का कोई व्याकरण या उसकी कोई नियम-संहिता नहीं होती। उसके विभिन्न प्रयोग भाषा-विज्ञान या व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भी माने जा सकते हैं।

(4) 'भाषा' अपने क्षेत्रों के भीतर और बाहर—सर्वत्र एक रूप रहती है। उसकी शब्दावली, वाक्य-विन्यास एवं अन्य अभिव्यंजना-कोटियाँ प्रायः सर्वत्र समान होती हैं। 'बोली' अपने ही क्षेत्र के प्रयोक्ताओं में भिन्न-भिन्न रूप लिये रहती है। उसमें एकरूपता का अभाव ही उसे 'बोली' के स्तर से ऊँचा नहीं उठने देता। अपने क्षेत्र से बाहर तो कोई 'बोली' शायद पूरी तरह समझी भी नहीं जा सकती।

(5) 'भाषा' मौखिक और लिखित—दोनों ही रूपों में समान रूप से प्रयुक्त होती है। उसके लेखिम अपना एक निश्चित स्वरूप लिये रहते हैं। उसकी वर्तनी के अपने नियम और रूप निश्चित होते हैं। दूसरी ओर, 'बोली' अधिकतर मौखिक रूप में ही प्रयुक्त होती है। किसी-किसी 'बोली' के कुछ उच्चरित रूपों को तो पूरी तरह लिपिबद्ध करना ही कठिन होता है।

(6) 'भाषा' शिक्षा, साहित्य, पत्राचार, सरकारी कामकाज, कला-संस्कृति, वाणिज्य-व्यवसाय, धर्म, राजनीति, समाज आदि में अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का सक्षम माध्मय बन सकती है। 'बोली' में यह क्षमता नहीं होती। कहीं-कहीं धर्म-चर्चा या आपसी बातचीत में, घर-बाजार या उस क्षेत्र में सार्वजनिक स्थानों पर जन-सामान्य उसे अवश्य अभिव्यक्ति या सम्प्रेषण-माध्यम के रूप में प्रयोग कर सकते हैं; किन्तु उसके माध्यम से शिक्षा नहीं दी जा सकती, आधिकारिक पत्राचार नहीं किया जा सकता। उसका अपना साहित्य नहीं होता।

(7) 'भाषा' अधिकतर औपचारिक रूप लिये रहती है और 'बोली' अनौपचारिक।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यक्ति, समाज और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में, विचारों के आदान-प्रदान का कार्य जितना सफलता से 'भाषा' द्वारा सम्पन्न हो सकता है, उतना 'बोली' द्वारा नहीं।

हिंदी का क्षेत्र और उसकी प्रमुख बोलियाँ

(क) क्षेत्र : हिन्दी भारत के बहुत बड़े भू-भाग की मातृभाषा, व्यवहार-भाषा, सम्पर्क-भाषा और साहित्यिक भाषा है। भारत के सात सज्यों (दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश) में इसे राजभाषा का तथा कई राज्यों में द्वितीय भाषा का दर्जा प्राप्त है। राष्ट्रभाषा के रूप में तो भारत के सभी (अहिन्दी-भाषी तमिलनाडु, केरल आदि और अर्धहिन्दी-भाषी पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि) राज्यों का आधिकारिक पत्रचार हिन्दी में अपेक्षित है। भारत के बाहर भी, हिन्दी को भारत एवं अन्य देशों के मध्य सम्पर्क-भाषा बनने का अवसर उपलब्ध है। नेपाल और मॉरिशस के अतिरिक्त रूस, अफ्रीका, जर्मन तथा अन्य कई यूरोपीय देशों में भी हिन्दी शिक्षा, पत्राचार एवं साहित्य का माध्यम है। हिन्दी के प्रयोक्ता-वर्ग की संख्या इस समय सत्तर करोड़ के आस-पास पहुँच चुकी है।

भारत में हिन्दी के क्षेत्र सुदूर पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में जम्मू-ऊधमपुर से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पश्चिम-पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण में खंडवा तक व्याप्त है।

(ख) हिन्दी की बोलियाँ : वर्तमान 'हिन्दी' मूलतः 'खड़ी बोली' का ही विकसित और परिनिष्ठित रूप है। भारत के भाषा-इतिहास और हिन्दी के उद्गम तथा विकास की दृष्टि से खड़ी बोली 'पश्चिम हिन्दी' वर्ग की एक बोली है जो विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों से अब एक समृद्ध साहित्यिक भाषा ही नहीं, राष्ट्रभाषा और राजभाषा बन चुकी है तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनने की प्रक्रिया की ओर अग्रसर है। (1978 ई. में संयुक्त राष्ट्र-संघ में तथा अप्रैल, 1984 ई. में उससे भी आगे—अंतरिक्ष में खड़ी बोली (मानक) हिन्दी अपना अस्तित्व स्थापित कर चुकी है।) इसका अभिप्राय यह है कि हिन्दी में 'पश्चिमी हिन्दी' वर्ग की बोलियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसके अंतर्गत खड़ी बोली (प्राचीन नाम, 'कौरवी') के अतिरिक्त हरियाणवी, दक्खिनी, ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी आदि समाविष्ट हैं।

'पश्चिमी हिन्दी' की सर्वाधिक निकटवर्तिनी अन्य बोलियाँ हैं—'राजस्थानी' और 'पहाड़ी'। 'राजस्थानी' के अंतर्गत क्रमशः मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी तथा 'पहाड़ी' के अंतर्गत कुमाऊँनी और गढ़वाली (पूर्वी पहाड़ी) के अतिरिक्त, पश्चिमी पहाड़ी के नाम उल्लेखनीय हैं।

'पहाड़ी हिन्दी' के क्षेत्र से थोड़ा आगे बढ़ें तो **पूर्वी हिन्दी** की बोलियों के क्षेत्र आ जाते हैं जिनमें अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी प्रमुख हैं। इन्हीं के साथ लगती हुई बोलियाँ **'बिहारी'** की हैं, जिनमें भोजपुरी, मगही और मैथिली प्रमुख हैं।

इस प्रकार **'हिन्दी' की पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं—(1) पश्चिमी हिन्दी, (2) राजस्थानी, (3) पहाड़ी, (4) पूर्वी हिन्दी और (5) बिहारी।** इनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

(1) पश्चिमी हिंदी

इसका केंद्र दिल्ली है। साथ ही पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पश्चिमोत्तर एवं पूर्वी हरियाणा के क्षेत्र की यह प्रधान बोली है। इसके अतर्गत पाँच बोलियाँ हैं—खड़ी बोली, ब्रज, हरियाणवी (बाँगरू), बुन्देली, कन्नौजी और दक्षिणी।

खड़ी बोली का मूलक्षेत्र दिल्ली, कुरुक्षेत्र, अम्बाला, फरीदाबाद, मेरठ, सहारनपुर, मुरादाबाद, बिजनौर और देहरादून है।

हरियाणवी का एक अन्य नाम 'बाँगरू' भी है, क्योंकि हरियाणा का पुराना नाम 'बाँगर' (बाँगड़) प्रदेश है। यह अधिकतर करनाल, रोहतक, जींद, सोनीपत आदि जिलों में बोली जाती है।

ब्रज किसी समय हिन्दी-साहित्य का प्रधान माध्यम थी। मध्यकालीन भक्ति-काव्य

का अथाह भंडार इसी में है। अब इसका क्षेत्र हरियाणा के जिला गुड़गाँव के कुछ क्षेत्र (बल्लभगढ़, पलवल, होडल) तथा उत्तर प्रदेश के मथुरा, आगरा, अलीगढ़ आदि में सीमित है।

खड़ी बोली : 'खड़ी बोली' को अब 'उपभाषा' या 'बोली कहना असंगत है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में यह अवश्य एक सीमित बोली थी। तब इसका नाम 'कौरवी' था। इसका क्षेत्र दिल्ली, आगरा, मेरठ, अम्बाला आदि के आस-पास था। धीरे-धीरे यह उत्तर प्रदेश, बिहार मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब (जिसमें वर्तमान हरियाणा भी था), हिमाचल प्रदेश आदि क्षेत्रों तक फैल गयी। कुछ राजनीतिक तथा ऐतिहासिक कारणों से इसका शब्द-भंडार बढ़ता गया। इसकी अनेक शैलियाँ विकसित हुई। पंद्रहवीं शताब्दी से दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में 'दक्षिणी हिन्दी' के नाम से इसका प्रसार हो गया।

इस 'कौरवी' बोली को 'खड़ी बोली' नाम अठारवीं शताब्दी के बाद (1801 ई. से) प्राप्त हुआ। 'खड़ी' का अभिप्राय है—खरी, शुद्ध, स्थिर, परिनिष्ठित। वास्तव में अंग्रेज़ी के Sterling, Standing और Standard शब्दों के पर्याय के रूप में ही 'खड़ी' शब्द इस 'बोली' (Dialect) के साथ जुड़ गया। तब यह 'बोली' न रहकर 'भाषा' बन गई, परंतु इसका नाम अब तक भी 'खड़ी बोली' रूढ़ और प्रचलित है। अब तो वास्तव में इसका पर्याय 'हिन्दी' है, जो न केवल राष्ट्रभाषा अपितु राजभाषा भी है। इसका अपना व्याकरण तथा अत्यन्त समृद्ध साहित्य-भंडार है।

भारत की, विशेषतया हिन्दी की सभी बोलियों में से यही एक ऐसी बोली है जो बहुत कम समय में विकसित होकर, समूचे ज्ञान-विज्ञान, काव्य, शास्त्र, शिक्षा, प्रशासन, व्यवसाय-प्रौद्योगिकी आदि का माध्यम बन गई। आज समस्त हिन्दी-भाषियों और भातर के अधिकांश क्षेत्रों का आधिकारिक कार्य-कलाप इसी में हो रहा है। भारत के अतिरिक्त कई अन्य देशों में भी यह शिक्षा, साहित्य और व्यावहारिक कामकाज का माध्मय है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर 'खड़ी बोली' को अब हिन्दी की 'उप भाषाओं' में या बोलियों में नहीं गिनना चाहिए।

हरियाणवी : इस बोली का क्षेत्र हिसार, रोहतक, करनाल, जींद, महेंद्रगढ़, फरीदाबाद और रेवाड़ी तथा इनके आसपास है। ये सभी क्षेत्र 'हरियाणा' के अंतर्गत आते हैं, इसीलिए इस बोली को **'हरियाणवी'** कहा जाता है।

'हरियाणवी' का पुराना नाम 'बाँगरू' है, क्योंकि 1956 ई. में 'हरियाणा' राज्य की अलग स्थापना से पहले वह वृहत्तर पंजाब का अंश था। इस क्षेत्र में,

पंजाब के अन्य स्थानों की अपेक्षा ऊँची-नीची, बंजर और शुष्क धरती अधिक थी, जिसे बाँगड़ (बाँगर) कहा जाता था। उसी से यहाँ की बोली का नाम **'बाँगरू'** प्रचलित हुआ।

इस क्षेत्र में अधिकतर आवादी जाट-समुदाय के लोगों की है। सामान्यतः वही इस बोली का प्रयोग करते हैं। इसलिए बोलचाल में **'हरियाणवी'** अथवा **'बाँगर'** बोली को **'जाटू'** बोली भी कहा जाता है।

यह बोली मूलतः प्राचीन 'कौरवी' की ही एक उपशाखा है। इस पर ब्रज, राजस्थानी और खड़ी बोली का पर्याप्त प्रभाव है। संज्ञाएँ और क्रियाएँ प्रायः आकारांत हैं। उनके अंत में 'आ' बोला जाता है। जैसे—

छोरा के कर रह्या सै।

भई, **घोड़ा** लैजो हौवे तौ **पीसा** तौ लागैंगे ई।

'हरियाणवी' में 'न' का उच्चारण 'ण' में करने की विशेष प्रवृत्ति है—

ए छोरी! **पाणी** लैं आवै **णा!**

ई **कूण** गी गाड्डी सै?

उपर्युक्त दूसरे उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि **'हरियाणवी'** में मूर्धन्य ध्वनियों को द्वित्व (दोहरे) रूप में बोलने की प्रवृत्ति है।

मध्यम पुरुष सर्वनाम प्रायः ('तू' या 'तुम' की बजाय) तैं, तम (बहुवचन) बोला जाता है।

तैं कद जावैगा?

तम कद जावौगे?

इन उदाहरणों से पता चलता है कि 'हरियाणवी' पर पंजाबी ('कब' को 'कद') का पर्याय प्रभाव है।

'हरियाणवी' बोली की ध्वनि-संरचना तथा रूप (शब्द और पद)-संरचना का एक सामान्य आभास कराने के लिए कुछ उदाहरणों पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा। [ध्यान रहे कि 'वाक्य-संरचना' की दृष्टि से मानक हिन्दी (खड़ी बोली) और हरियाणवी में कुछ अन्तर नहीं, क्योंकि इसमें (बल्कि हिन्दी की सभी बोलियों में, वाक्य-संरचना का स्वरूप एक-सा है।) कर्त्ता, कर्म, क्रिया का अनुक्रम, विशेषण का विशेष्य और क्रिया-विशेषण का क्रिया से पहले प्रयोग तथा लिंग-वचन-कारक आदि की व्यवस्था एक समान है। अन्तर है तो ध्वनियों और शब्दों के संरचनात्मक स्वरूप में।]

मानक हिन्दी (खड़ी बोली)	हरियाणवी
मैं किताब पढ़ता/पढ़ती हूँ	मैं किताब पढ़ूँ सूँ।
तू किताब पढ़ता/पढ़ती है।	तैं किताब पढै सै।
लड़के किताब पढ़ रहे थे।	छोरे किताब पढ रिहे थे।
लड़के किताब पढ़ते थे।	छोरे किताबं पढैं थे।
मैंने यह किताब पढ़ी।	मन्ने जे किताब पड्ढी।
लड़का बोला।	छोरा (छोह्रा) बोल्या।
वह कचहरी जा रहा है।	ओह् कचैरी जा रिहा सै।
मुझे क्या पता है?	मन्ने के बेरा सै?
तुम क्या कर रहे हो?	तम कै कर रिहे सौ?

हरियाणवी में लोक-साहित्य और लोकगीतों का प्रचुर भंडार मिलता है। हरियाणा की राग-रागनी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनमें विशेष प्रकार की मिठास और लोक-जीवन-व्यवहार मिलता है। हरियाणवी में हाजिर-जवाबी और चुटकुलेबाजी के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य का पुट इस बोली को जीवंतता प्रदान करता है।

ब्रज : आगरा, मथुरा, हाथरस, अलीगढ़, खुर्जा, बुलंदशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली आदि के आस-पास का विशाल क्षेत्र 'ब्रज' कहलाता है। इसी क्षेत्र की बोली 'ब्रज' है। उत्तर प्रदेश की सीमा के साथ लगे हरियाणा (गुड़गाँवा जिला) और राजस्थान (अलवर-भरतपुर जिला) तथा मध्य प्रदेश (ग्वालियर जिला) के कुछ क्षेत्रों में भी 'ब्रज' का प्रचलन है।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि जो 'ब्रज' कभी समूचे भारत में साहित्यिक (काव्य) भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित रही, वही अब पुनः सिमटकर 'बोली' के स्तर पर आ गई है।

'ब्रज' के प्रयोग की शुरुआत तेरहवीं-चौंदहवीं शताब्दी में आगरा-मथुरा और ग्वालियर से हुई। पहले यह सामान्य जन की 'बोली' थी, धीरे-धीरे लोक-गायकों और भक्त-कवियों द्वारा इसका प्रचार-प्रसार व्यापक हुआ। विभिन्न विद्वानों द्वारा यह राजदरबारों में भी सम्मानित हुई। पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक यह भारत के वहुत वड़े भू-भाग की काव्य-भाषा और कहीं-कहीं गद्य-भाषा भी बन गई। कहीं 'भाषा' या 'भाखा' के रूप में कहीं 'ब्रजबुलि' के रूप में इसकी सरसता व्यापक हुई। खुसरो, कबीर, नानक, नामदेव, दादू, विष्णुदास, सूर, तुलसी, रहीम, रसखान, आलम, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह—हर क्षेत्र तथा वर्ग के रचनाकारों ने इसे अपनी वाणी का माध्यम बनाया। इसीलिए अठारहवीं शताब्दी

के एक आचार्य कवि ने कहा कि **'ब्रजभाषा** हेत ब्रजवास ही न **अनुमानौं'** अर्थात् 'ब्रज' भाषा के लिए 'ब्रज' (क्षेत्र) का वासी होना ही आवश्यक नहीं। 'ब्रज' के संवंध में यह बात सामान्य हो गई कि **'भाषा ब्रजभाषा रुचिर'**।

उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा अन्य कारणों से उत्तर भारत की एक अन्य बोली 'खड़ी बोली' इतनी सबल हो गई कि 'ब्रज' धीरे-धीरे सिकुड़ने लगी। बीसवीं शताब्दी में तो सर्वत्र 'खड़ी बोली' (वर्तमान मानक हिन्दी) का साम्राज्य स्थापित हो गया और आज 'ब्रज' पुनः एक 'बोली' या 'उपभाषा' के रूप में ही मान्य है।

'ब्रज' अपनी कई भाषिक विशेषताओं के कारण, अन्य बोलियों की अपेक्षा एक अलग पहचान रखती है। इसकी सबसे प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि प्रायः संज्ञाएँ और क्रियाएँ 'ओकारान्त' हैं। उन्हीं के अनुसार, 'विशेषण' और 'क्रिया-विशेषण' भी प्रायः 'ओकारान्त' हो जाते हैं। जैसे—

छोरा कित गयो हो।

कैसो भलो मानस थे।

इसी प्रकार, पहलो, दूसरो, कारो, ऐसो, इतनो, प्यारो, आदि प्रयोग सामान्य रूप से मिलते हैं। एक ओर 'ण' का उच्चारण 'न' में करने की प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर 'ल' 'ड़' आदि का उच्चारण 'र' के रूप में होता है। जैसे—परवीन (प्रवीण), बेनु (वेणु), पर्‍यो (पड़ा), उरझ्‍यो (उलझा), जर्‍यो (जला), जुरत (जुड़त)। आरम्भिक 'व' ध्वनि प्रायः 'ब' के रूप में उच्चरित होती है, परंतु अंतिम 'व' का उच्चारण कहीं-कहीं 'उ' के रूप में होता है। जैसे—वदन—बदन, विकार—बिकार, विषय—बिखै, दाव—दाउ आदि।

'ब्रज' की ध्वनि-संरचना एवं रूप-संरचना का कुछ आभास निम्नलिखित उदाहरणों से हो सकेगा—

मानक हिन्दी (खड़ी बोली)	**ब्रज**
काला लड़का बोला।	कारौ छोरा बोल्यौ।
लड़का जाएगा।	छोरा जाइगौ।
लड़का गाँव में आया और बहू से।	छोरा गाम् कूँ आयौ औरु।
बोला कि मैं नौकरी पर जाऊँगा।	बऊ ते बोल्यौ कै मैं नौकरी कूँ जाऊँगो।
इन गाँवों में लड़कियों के मायके हैं।	इन् गाँमन् मैं छोरिन् कै पीहर् ऐं।
तू पेड़ काटेगा।	तू बिरवा काटैगो।
वह पेड़ काटेगा।	बु (ऊ) बिरवा काटैगो।

मध्ययुग में लिखित लौकिक-अलौकिक भावधारा का साहित्य ब्रजभाषा की अमूल्य निधि है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रज के साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल परम्परा का पालन ही नहीं है, बल्कि ब्रजभाषा के बिना हिन्दी की आधारभूमि और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझ पाना कठिन है। 'ब्रज' में विशेष रूप से 'मुक्तक काव्य-परम्परा' प्रचलित है। आरम्भिक खड़ी बोली का विकास भी ब्रज भाषा की पृष्ठभूमि पर ही हुआ था।

कन्नौजी–ब्रज तथा अवधी के मध्यवर्ती क्षेत्र की बोली है। इसका प्रयोग कन्नौज, इटावा, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद आदि जिलों में होता है।

बुंदेली–**बुंदेलखंड** की बोली है जिसका केंद्र झाँसी है।

दक्खिनी–हैदराबाद, देवगिरि, गुलबर्गा में विकसित दक्खिनी हिन्दी अपनी प्रकृति और संरचना में पश्चिमी हिन्दी के बहुत निकट है। इसका पुराना नाम 'रेखता' है। यह मूलतः दिल्ली में प्रचलित खड़ी बोली का ही दक्षिणी रूपांतर है जो चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में विभिन्न मुसलमानों द्वारा वहाँ पहुँचा तथा खड़ी बोली हिन्दी के अनुरूप विकसित होता रहा।

(अनेक भाषा-वैज्ञानिक 'दक्खिनी हिन्दी' की गणना मानक हिन्दी की बोलियों में नहीं करते; किंतु प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. हरदेव बाहरी तथा डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया इसे पश्चिमी हिन्दी का ही एक उपरूप मानने के पक्षपाती हैं।)

(2) राजस्थानी

यह हरियाणा के कुछ दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्रों के अतिरिक्त समस्त राजस्थान में बोली जाती है। इसके अंतर्गत चार बोलियाँ समाविष्ट हैं–(1) मेवाती, (2) मारवाड़ी, (3) मालवी और (4) जयपुरी।

मेवाती–यह हरियाणा के मेवात (सोहना, फिरोजपुर झिरका, नूह आदि) क्षेत्र की बोली है।

मारवाड़ी–मारवाड़ी का क्षेत्र जोधपुर, उदयपुर, जैसलमेर और बीकानेर के जिले हैं।

मालवी–राजस्थान के मालव प्रदेश की बोली है जो मध्य प्रदेश के इन्दौर जिले तक बोली जाती है।

जोधपुरी–जय जयपुर, कोटा-बूँदी क्षेत्र में प्रयुक्त होती है।

(3) पहाड़ी

इसे भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–उत्तर-पश्चिमी, पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी। **उत्तर पश्चिमी पहाड़ी** में हिमाचल, जम्मू आदि

के क्षेत्रों की बोली आती है और **मध्य पहाड़ी** में प्रमुखतया **कुमाऊँनी** और **गढ़वाली** का समावेश है जिसका क्षेत्र उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा, रानीखेत, नैनीताल, गढ़वाल (देहरादून-मसूरी) आदि तक फैला है। पूर्वी पहाड़ी के अंतर्गत 'गोरखाली' बोली का नाम उल्लेखनीय है।

(4) पूर्वी हिंदी

'पश्चिमी हिन्दी' के पश्चात् 'पूर्वी हिन्दी' का क्षेत्र सबसे विस्तृत है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—(1) अवधी, (2) बघेली और (3) छत्तीसगढ़ी।

अवधी : इस बोली का नामकरण अवध (अयोध्या) के आधार पर हुआ है। इसका क्षेत्र लखनऊ, फैजाबाद, सीतापुर, रायबरेली, गोंडा, बाराबंकी, प्रतापगढ़ तक फैला हुआ है। भारत के स्वतंत्र होने (1947 ई.) से पहले इस पूरे क्षेत्र का नाम 'अवध' ही था।

'अवधी' यद्यपि उत्तर प्रदेश के एक सीमित क्षेत्र की बोली है पर मध्ययुग में इसे प्रौढ़, समृद्ध साहित्यिक काव्यभाषा होने का गौरव मिल चुका है।

मुगल शासन के दौरान अनेक सूफी-संत लखनऊ-अवध में बस गए थे। उन्होंने अपने प्रेम-मार्गी मत का जन-साधारण में प्रचार करने के लिए, वहाँ की लोक-बोली को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया। यह बोली अवधी थी। धीरे-धीरे 'अवधी' सामान्य जनता के दायरे से बाहर निकलकर सूफी फकीरों और कवियों की वाणी का माध्यम बन गई। मध्ययुग के लोकनायक और हिन्दी के प्रसिद्ध भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने उमर महाकाव्य 'रामचरितमानस' की रचना 'अवधी' में की। शायद इसलिए कि उनके आराध्य श्रीराम उसी 'अवध' (अयोध्या) के थे। सूफियों की 'अवधी' जहाँ ठेठ जनबोली थी, वहीं तुलसीदास ने उसे अपने संस्कृत ज्ञान के पुट से एक परिमार्जित और परिष्कृत 'काव्य-भाषा' बना दिया। परंतु उनके बाद, 'अवधी' अधिक समय तक काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित न रह पाई। इसका एक कारण यह था कि हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में **'ब्रज'** का वर्चस्व बढ़ गया। यहाँ तक कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी अन्तिम रचना 'कवितावली' की रचना **'ब्रज'** में की। दूसरा कारण यह था कि मुसलमानों का शासन-क्षेत्र दक्षिण तक फैल जाने से अधिकांश सूफी दरवेश भी उधर चले गए। उन्होंने वहाँ की 'दक्षिणी हिन्दी' को अपना लिया।

इस प्रकार 'अवधी' यद्यपि साहित्यिक भाषा के पद पर अधिक समय आसीन न रह सकी, तथापि लोक-व्यवहार में उसका प्रचलन आज भी है।

'अवधी' की ध्वनि-संरचना और रूप-रचना मानक हिन्दी (खड़ी बोली) से पर्याप्त भिन्न है। उदाहरणतया इसमें 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण 'अइ' तथा 'अउ' के रूप में होता है, जैसे–ऐसा–अइसा, और–अउर। व्यंजन ध्वनियाँ शब्द के अंत में प्रायः उकारान्त उच्चरित होती हैं, जैसे–सतु, रामु, दिनु इत्यादि। कुछ पदों के अंत में 'इया' और 'वा' लाने की प्रवृत्ति है। जैसे–छोकरिया, बेटवा, बचवा इत्यादि। 'ड़' का उच्चारा 'र' के रूप में (प्रायः संज्ञाओं में) होता है–लड़का–लरिका। 'व' प्रायः 'ब' बोला जाता है–बैसु (वयस), बदनु (वदन), बारी (वारी अर्थात् बलिहारी), (बिचार) विचार, (बिआखा) व्याख्या, बिखु (विष) इत्यादि। क्रिया-पदों से अंतिम 'ना' के स्थान पर 'इबो' बोला जाता है–करना (करिबो), चलना (चलिबो) आदि।

'अवधी' की भाषिक प्रकृति का वैशिष्ट्य समझने के लिए कतिपय अन्य उदाहरण उपयुक्त होंगे–

मानक हिन्दी (खड़ी बोली)	**अवधी**
मैं चला।	मइँ चलेउँ।
तू चला।	तू चलिस।
हम चलते हैं।	हम चलन।
मैं उसकी पीठ खुजाता हूँ।	मइँ ओकर पीठ खजुआत हउँ।
वे कहाँ रहते हैं?	वे कहा रहत हइँ?
मिट्टी का दीप जलता है।	माटी केर दीप जलइ।
मेरा सिर दुखता है।	मोर मूड़ पिरावत अहइ।
लड़की आकर गिर गई।	लरिकी आइकै गिर गइस।
लड़कों ने गजब कर दिया।	लरिका गजब कर दिहिन।
वे कार्तिक में बम्बई जाएँगे।	वे कातिक म्हा बम्बई जइहइँ।
हम भी चलेंगे।	हमउँ चलइ।
बेटा भी चलेगा।	बेटवा उ चलिहै।

'अवधी' में प्राप्त लोकसाहित्य और लोकगीत इसकी साहित्यिक और सांस्कृतिक धरोहर हैं। इन लोकगीतों में वहाँ के जीवन-व्यवहार, सामाजिक क्रिया-कलाप और लोक चेतना का आभास आसानी से मिल जाता है। अवधी में विशेष रूप से 'प्रबंध-काव्य' परम्परा का विकास हुआ।

बघेली अधिकतर मध्य प्रदेश के बघेलखंड क्षेत्र में बोली जाती है। इसका क्षेत्र छोटा नागपुर तथा रीवा जिला है।

छत्तीसगढ़ी भी मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ इलाके की बोली है। रायपुर और विलासपुर में इसका प्रयोग होता है।

(5) बिहारी

बिहार के अधिकांश भागों में प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम 'बिहारी' है। इसके अंतर्गत तीन बोलियों के नाम उल्लेखनीय हैं—(1) भोजपुरी, (2) मैथिली और (3) मगही।

भोजपुरी

'भोजपुरी' का नामकरण यद्यपि जिला शाहाबाद (बिहार) के एक गाँव 'भोजपुर' के आधार पर हुआ है, तथापि इसका व्यवहार-क्षेत्र बिहारी बोलियों में सबसे अधिक है। इसके अंतर्गत गोरखपुर, देवरिया, बलिया, वाराणसी, जौनपुर और मिर्जापुर के जिले समाविष्ट हैं।

'भोजपुरी' के अधिक विस्तार और प्रचार-प्रसार का कारण राजनीतिक रहा। प्राचीन समय में उपर्युक्त 'भोजपुर' गाँव, 'भोजपुर राज्य' की राजधानी रहा। राजकीय तन्त्र के अंतर्गत वहाँ की बोली धीरे-धीरे आस-पास के क्षेत्रों में फैल गई। आज लगभग ढाई करोड़ व्यक्ति इसका प्रयोग करते हैं। इसका विस्तार नेपाल की सीमा तक पश्चिमी बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा छोटा नागपुर तक है।

यद्यपि **'भोजपुरी'** में लिखित साहित्य अधिक नहीं है (केवल राहुल सांकृत्यायन की कुछ रचना भोजपुरी में हैं, अन्य रचनाकारों ने या तो 'अवधी' में रचना की, या फिर खड़ी बोली में), तथापि इस क्षेत्र के अनेक गण्यमान्य व्यक्ति राजनीति, कला, सिनेमा तथा खेल-जगत् में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए यह बोली, अन्य बोलियों की अपेक्षा, उत्तर-पूर्व भारत में अधिक चर्चित तथा लोकप्रिय है। 'गंगा मैया तोहे पियरी चढ़इबो' जैसी फिल्मों ने साहित्य-कला के क्षेत्र में अपार प्रशंसा प्राप्त की।

'भोजपुरी' में 'अल्पप्राण' ध्वनियों (क, च, ट, त, प, ब आदि) को 'महाप्राण' (ख, छ, ठ, थ, फ, भ आदि) के रूप में उच्चारित करने की विशेष प्रवृत्ति है। जैसे—

टाँग—ठाँङ्। पेड़—फेड़। पतंगा—फतिंगा। महाभारत—महाभारथ।

कहीं-कहीं 'न' का उच्चारण 'ल' के रूप में होता है। भोजपुरी बोलने वाले 'नोट' को 'लोट', 'नोटिस' को 'लोटिस' आदि कहते हैं। इसी प्रकार 'ल' को 'र'—गला—गरा, मछली—मछरी, बाल—बार तथा 'श' को 'च' बोलने की प्रवृत्ति भी मिलती है—'शाबास'—'चाबास'।

'भोजपुरी' बोली की एक अन्य भाषिक प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। इसमें संख्यावाची

विशेषणों–एक, दो, चार आदि के साथ 'गो' या 'ठो' लगाने का प्रचलन है। जैसे–एक ठो रुपिया, दूगो आदमी, चार ठो बइल। इसी प्रकार क्रियाओं के अंत में हलंत 'ल्' जोड़ने की प्रवृत्ति सामान्य है–चलल्, खायल्, गइल् आदि। स्थानवाची क्रिया-विशेषण 'यहाँ', 'वहाँ' के लिए 'इँहवाँ' 'उँहवाँ' आदि का और 'कहाँ' के लिए 'केठाँ' (कौन सी जगह?) का प्रयोग होता है।

'भोजपुरी' की भाषिक प्रकृति और विशिष्ट प्रवृत्तियों को तनिक और स्पष्टता से जानने के लिए कुछ अन्य उदाहरण किए जा रहे हैं–

मानक हिन्दी (खड़ी बोली)	**भोजपुरी**
मैं घर में हूँ।	मैं घरे हई।
हम घर में हैं।	हमनीका घर हउएँ।
वह घर में है।	ओ घरे हो।
पानी बहता है।	पानी बहत ब।
ऐसी नारियाँ भारत में भरी हुई हैं।	अइसल मेहरारू भारत देस माँ भरल बाड़ी।
तुम घर रहोगे।	तोहनीका घर रहबि।
कौन वन रहे री कोयलिया, कौन वन जाय।	कवना बने रहलु हे होइलर, कवना बने जाए।

'भोजपुरी' में लिखे लोकगीत इसे बोलने वाले लोगों की सांस्कृतिक लोक चेतना और लोक-जीवन-व्यवहार का प्रतिनिधित्व करते हैं। मॉरिशस और सूरीनाम आदि देशों में भोजपुरी का प्रचलन इसके प्रचार-प्रसार का संकेत देता है।

मैथिली अधिकांशतः दरभंगा, पूर्णिया और भागलपुर में बोली जाती है।

मगही का क्षेत्र पटना, गया तथा हजारीबाग जिले के कुछ भाग में फैला हुआ है।

हिन्दी और उसकी बोलियों में अन्तर

हिन्दी (खड़ी बोली–पश्चिमी हिन्दी) तथा उसकी अन्य बोलियों में अन्तर स्पष्ट करनेवाले कुछ तथ्य-संकेत इस प्रकार हैं–

(1) हिन्दी **आकारान्त-प्रधान** है (आया, गया, रहा, कहा, घोड़ा माथा आदि) जबकि उसकी अधिकांश बोलियाँ **ओकारांत-प्रधान** हैं (आयो, गयो, रह्यो, कह्यो, घोड़ो, माथो आदि)।

(2) हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले **संधिस्वर** (ए, ओ) कुछ बोलियों में पृथक्

होकर **मूल स्वर-युगल** के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—दो-दुई, बैल-बइल, ऐसा-अइसा, कौन-कउन।

(3) अन्य कुछ बोलयों में यही **स्वर** स्वरसंधि के अनुसार परिवर्तित **व्यंजनों के रूप में** प्रयुक्त होते हैं। जैसे—कौन-कवन (कवण)।

(4) इसके विपरीत, कुछ बोलियों में **हिन्दी अर्धस्वर** (य, व) के स्थान पर इनमें आभासित **मूल स्वर इ-उ का प्रयोग** देखा जाता है। यथा—यहाँ-इहाँ, वहाँ-उहाँ।

(5) हिन्दी की अधिकांश बोलियों में हिन्दी के **'न' के स्थान 'ण' का उच्चारण** प्रचलित है—पानी-पाणी, थाना-थाणा इत्यादि।

(6) **द्वित्व व्यंजनों के प्रयोग की प्रवृत्ति** भी अधिकांश बोलियों में पाई जाती है। जैसे—तन्नै, मन्नै, गाड्डी, बाब्बू, भीतर।

(7) कई बोलियों की ध्वनियों में **महाप्राणत्व की प्रवृत्ति** बड़ी प्रबल है—म्हारो, थारो आदि।

(8) कुछ बोलियों में **क्रियापदों के मध्यवर्ती व्यंजन को हलंत रूप में बोलने की प्रवृत्ति** दिखाई देती है—मार्‌या, खेल्या, रह्या, कर्‌या, भेज्या, बोल्या इत्यादि।

(9) कहीं-कहीं परसर्ग में उच्चरित **'ओ' ध्वनि 'ओं' या 'ऊँ' के रूप में प्रयुक्त होती है।** जैसे—को-कू (मेरे कू तेरे कू) से-सों-सूँ (मो सूँ, तो सूँ) इत्यादि।

(10) हिन्दी की **'ल' ध्वनि का उच्चारण** उसकी अनेक बोलियों में **'ल' (ल और ड़ की मध्यवर्ती ध्वनि) के रूप में** सुना जाता है। यथा—काल, माला, नाला इत्यादि।

(11) **'श' के स्थान पर 'स' का** उच्चारण हिन्दी की अनेक बोलियों की प्रमुख प्रवृत्ति है—शमशेर-समसेर, शोक-सोक आदि।

(12) कुछ बोलियों में 'स' का उच्चारण 'छ' के रूप में भी होता है—सीता-छीता, सारा-छारा आदि।

इस प्रकार के हिन्दी और उसकी बोलियों के अन्तर-सूचक अनेक अन्य उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं; फिर भी ये सभी बोली-रूप ऐतिहासिक परम्परा तथा भाषिक संरचना की दृष्टि से, हिन्दी के साथ गुँथे हुए हैं। इनमें पारस्परिक बोधगम्यता, व्याकरणिक नियमों की समानता तथा सबसे अधिक सामाजिक-सांस्कृतिक रिक्थ की सहभागिता इन्हें हिन्दी से अधिक दूर नहीं होने देती। विभिन्न बोलियों में रचित लोक-साहित्य हिन्दी की अमूल्य थाती है जिसकी नींव पर मानक हिन्दी का सर्जनात्मक साहित्य एक विशाल भवन के रूप में प्रतिष्ठित है।

राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्क भाषा

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी

आजादी (15 अगस्त, 1947 ई.) से पहले पूरे भारत को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए एक अखिल भारतीय भाषा की अवधारणा आवश्यक मानी जाती रही। इस अवधारणा के सबल होने का मुख्य कारण था—ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा भारतीयों पर अँगरेज़ी थोपने की कूटनीति। भारत में अँगरेज़ों के शासन से पहले, यद्यपि पाँच-छह सौ वर्षों तक मुस्लिम शासन रहा तथा राष्ट्रभाषा (हिन्दी) और राजभाषा (फारसी) में कभी कोई विरोध-वैमनस्य या द्वन्द्व-संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। शाही दरबारों, अहलकारों, वजीरों और कारिंदों द्वारा कुछ विशेष शाही प्रयोजनों के लिए भले ही फारसी का प्रयोग होता रहा, लेकिन आम जनता के विचार-व्यवहार और संपर्क-संचार की भाषा हिन्दी ही रही। मुस्लिम-शासक-वर्ग ने देश की आम जनता से संपर्क बनाये रखने क़े लिए न केवल उसी (जनता की) भाषा को माध्यम बनाया, बल्कि उस वर्ग के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य की रचना भी की।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए और समूचे देश में मानव-व्यवहार और विचारों के आदान-प्रदान तथा जीवन उपयोग क्षमता की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए हिन्दी को चुना गया। इसी आधार पर समूचे राष्ट्र की भाषा होने के नाते हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा भी दिया गया। इसमें सभी बुद्धिजीवी, स्वतन्त्रता सेनानी, साहित्यकार, राजनेता, समाज-सुधारक तथा कलाकार और भाषानीति नियामक—सभी एकमत थे।

इस तथ्य से प्रायः सभी परिचित हैं कि भाषा और साहित्य के स्तर पर हिन्दी का उदय लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से माना जाता है। तब से लेकर आज तक **'राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी'** की विकास-परम्परा को मुख्य रूप से तीन चरणों या सोपानों में बाँटा जा सकता है—(1) आदिकाल, (2) मध्यकाल और (3) आधुनिक काल।

राजभाषा : तात्पर्य और स्वरूप

भारत की स्वाधीनता (15 अगस्त, 1947 ई.) से पहले, हिन्दी में 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। सबसे पहले सन् 1949 ई. में भारत के महान् नेता

श्री राजगोपालाचारी ने भारतीय संविधान सभा में 'नेशनल लैंग्वेज' (National Language) के समान्तर 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से किया कि 'राष्ट्रभाषा' (National Language) और 'राजभाषा' (State Language) में अन्तर रहे और दोनों के स्वरूप को अलगाने वाली विभेदक रेखा को समझा जा सके। संविधान सभा की कार्रवाई के हिन्दी-प्रारूप में 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) का हिन्दी अनुवाद 'राजभाषा' किया गया और इस प्रकार पहली बार यह शब्द प्रयोग में आया। बाद में संविधान का प्रारूप तैयार करते समय, 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) के स्थान पर 'ऑफिशियल लैंग्वेज' (Official Language) शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा गया और 'ऑफिशियल लैंग्वेज' का हिन्दी-अनुवाद 'राजभाषा' ही किया गया। ('सरकारी' या 'कार्यालयी' भाषा नहीं)। इसी परिप्रेक्ष्य में, 'राजभाषा' शब्द का तात्पर्य है—

(क) राजा (शासक) अथवा राज्य (सरकार) द्वारा प्राधिकृत भाषा।

भारतीय लोकतन्त्र में शासक या सरकार का गठन संविधान की प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है, अतः दूसरे शब्दों में 'राजभाषा' का तात्पर्य है—

(ख) संविधान द्वारा सरकारी कामकाज, प्रशासन, संसद और विधान-मण्डलों तथा न्यायिक कार्यकलाप के लिए स्वीकृत भाषा।

'राजभाषा' के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए 'राष्ट्रभाषा' शब्द के व्यापक अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। 'राष्ट्रभाषा' का अभिप्राय है— **(क) राष्ट्र की भाषा** अथवा (ख) **समूचे राष्ट्र में प्रयुक्त** होने वाली भाषा। इस दृष्टि से, भारत में प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाली सभी भाषाएँ 'राष्ट्रभाषा' कहलाने की अधिकारिणी हैं। (इन प्रमुख भारतीय भाषाओं का उल्लेख भारतीय **संविधान के अनुच्छेद 344 (1) और 351 के सन्दर्भ में, आठवीं अनुसूची (Scheduale VIII)** के अन्तर्गत किया गया है। मूल संविधान में, इस अनुसूची में चौदह भाषाएँ दर्ज थीं। बाद में हुए संशोधनों के आधार पर अब इस अनुसूची में अठारह भाषाएँ शामिल हैं। इनका पूरा विवरण आगे, उचित स्थान पर दिया गया है।) यदि किसी एक भाषा (उदाहरणतया 'हिन्दी') को संविधान में 'राष्ट्रभाषा' 'नेशनल लैंग्वेज' (National Language) के रूप में मान्यता दी जाती तो भारत की अन्य समृद्ध भाषाएँ उपेक्षित रह जातीं। सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं का अपना गौरवपूर्ण इतिहास और समृद्ध साहित्य भण्डार है। इसलिए अपने-अपने प्रदेश और क्षेत्र में ये सभी भाषाएँ राष्ट्र के समग्र स्वरूप का समन्वित अंग हैं। किन्तु सभी क्षेत्रों या प्रदेशों (राज्यों) की

अपनी भाषाओं का अस्तित्व और महत्त्व स्वीकार करते हुए भी समूचे राष्ट्र में पारस्परिक सम्पर्क, आदान-प्रदान, विचार-विमर्श, संचार-संवाद और राष्ट्रीय (आखिल भारतीय) स्तर पर पत्राचार आदि के लिए किसी एक **सम्पर्क भाषा** का होना आवश्यक है। इसके लिए भारत के सभी अग्रणी विचारक, शिक्षाविद् और राजनीतिज्ञ हिन्दी को ही भारत की एकमात्र सर्वसक्षम भाषा मानते रहे हैं। सन् 1937 ई. में जब भारत में पहली बार आम चुनावों के आधार पर सरकारें गठित हुईं जब **'एक अखिल भारतीय भाषा'** की आवश्कयता पर बल देते हुए, भारत के अग्रणी नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—

''हर प्रान्त की सरकारी भाषा राज्य में कामकाज के लिए उस प्रान्त की भाषा होनी चाहिए। परन्तु हर जगह, अखिल भारतीय भाषा होने के नाते हिन्दुस्तानी को सरकारी तौर पर माना जाना चाहिए। अखिल भारतीय भाषा कोई हो सकती है तो वह सिर्फ हिन्दी या हिन्दुस्तानी कुछ भी कह लीजिए यही हो सकती है।''

इस प्रकार 'राजभाषा' का अभिप्राय है—**अखिल भारतीय स्तर पर राजकीय कामकाज के लिए माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने वाली भाषा।**

'राजभाषा' की उपर्युक्त अवधारणा के आधार पर उसे 'राष्ट्रभाषा' से अलग मानकर, उसके स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त है।

राजभाषा और राष्ट्रभाषा में अन्तर

स्वतन्त्र भारत (15 अगस्त, 1947 ई.) के नए संविधान की रचना (14 सितम्बर, 1949 ई.) और भारत के गणराज्य बन जाने पर (26 जनवरी, 1950 ई.) इस संविधान के लागू होने से पहले **'राष्ट्रभाषा'** शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में होता था जिस अर्थ में आज 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग होता है। हिन्दी का लगभग एक हजार वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह (हिन्दी) ग्यारहवीं शताब्दी से ही प्रायः अक्षुण्ण रूप से 'राष्ट्रभाषा' के रूप में प्रतिष्ठित रही है। चाहे राजकीय प्रशासन के स्तर पर कभी संस्कृत, कभी फारसी और बाद में अँगरेज़ी को मान्यता प्राप्त रही, किन्तु समूचे राष्ट्र के जन-समुदाय के आपसी सम्पर्क, संवाद-संचार, विचार-विमर्श, सांस्कृतिक ऐक्य और जीवन-व्यवहार का माध्यम हिन्दी ही रही। (इसका विशद विवरण और विवेचन पीछे 'राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी' शीर्षक प्रकरण में है।) बीसवीं शताब्दी के मध्य (1947 ई.) में जब भारत विदेशी साम्राज्य के बंधन से मुक्त होकर स्वायत्त लोकतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ तब सवैधानिक दृष्टि से **'राष्ट्रभाषा'**

और **'राजभाषा'** को पृथक् रूप से परिभाषित किया जाना आवश्यक था। यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर आज संयोगवश हिन्दी **'राष्ट्रभाषा'** होने के साथ-साथ **'राजभाषा'** के रूप में भी मान्य है तथापि सैद्धान्तिक स्तर पर इन दोनों की अवधारणा अलग-अलग है। संक्षेप में, दोनों के स्वरूप को अलगाने वाली प्रमुख विभाजक बिन्दु-रेखाएँ निम्नलिखित रूप से समझी जा सकती हैं–

(1) **राष्ट्रभाषा** समूचे राष्ट्र के अधिकांश जन-सामान्य द्वारा प्रयुक्त होती है। देश के अधिकतर भागों में आम लोग जिस भाषा में आपसी बातचीत, विचार-विमर्श और लोक-व्यवहार करते हैं, वही **राष्ट्रभाषा** है।

दूसरी ओर, **राजभाषा** का प्रयोग प्रायः राजकीय, प्रशासनिक तथा सरकारी-अर्द्धसरकारी कर्मचारियों-अधिकारियों द्वारा होता है। विविध प्रकार के राजकीय कार्यकलाप की माध्यम भाषा **राजभाषा** कहलाती है।

(2) राष्ट्रभाषा का शब्द-भंडार देश की विविध बोलियों, उपभाषाओं आदि से समृद्ध होता है। उसमें लोक-प्रयोग के अनुसार नयी शब्दावली जुड़ती चली जाती है। जबकि **राजभाषा** का शब्द-भंडार, एक सुनिश्चित साँचे में ढला और प्रयोजन विशेष के लिए निर्धारित प्रयुक्तियों तक ही सीमित होता है।

(3) **राष्ट्रभाषा** जनता की भाषा है। **राजभाषा** प्रशासक वर्ग की भाषा है।

(4) **राष्ट्रभाषा** का प्रयोग अनौपचारिक रूप से, उन्मुक्त और स्वच्छंद शैली में होता है। राजभाषा औपचारिकता की मर्यादा-सीमाओं में बँधी रहती है। उसमें मानव-सुलभ सहजता, उनमुक्तता या स्वच्छन्द कल्पना के लिए विशेष स्थान नहीं। निर्धारित और मानक-रूप से मान्य भाषा-प्रयोग की नियमावली का अनुसरण **राजभाषा** में आवश्यक है।

(5) **राष्ट्रभाषा** में राष्ट्र की आत्मा बोलती है। समूचे देश की जनता की सोच, संस्कृति, विश्वास, धर्म और समाज संबंधी धारणाएँ, जीवन के विविधतापूर्ण व्यावहारिक पहलू, लौकिक-आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ निजी और सामूहिक सुख-दुःख के भाव, लोक-नीति संबंधी विविध विचार और दृष्टिकोण **राष्ट्रभाषा** के माध्यम से ही साकार होते हैं।

राजभाषा की प्रकृति इससे कुछ भिन्न है। यह वैधानिक आवरण धारण किए रहती है। उसमें अधिकतर प्रशासकीय, कानूनी और संवैधानिक नियम-विधान, विधि-निषेध एवं उनसे संबंधित विवेचन-विशलेषण किया जाता है।

(6) **राष्ट्रभाषा** राष्ट्र के समस्त सार्वजनिक स्थानों, तीर्थों, सांस्कृतिक केंद्रों,

सभास्थलों, गली-मुहल्लों, हाट-बाजारों, मेलों-उत्सवों में प्रयुक्त होती है, जबकि **राजभाषा** का प्रयोग-क्षेत्र कार्यालयों की चारदीवारी तक सीमित हैं।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि **राष्ट्रभाषा** तो एक विशाल उद्यान है, जबकि **राजभाषा** उसी विशाल उद्यान से चुने हुए कुछ विशेष प्रकार के फूलों का गुलदस्ता है। दोनों का अपना-अपना महत्त्व और वैशिष्ट्य असंदिग्ध है।

सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी

'सम्पर्क भाषा' शब्द का व्यवहार अँगरेज़ी शब्द लिंग्वा फ्रेंका (Lingua Frenca) के समानान्तर किया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में इसका अर्थ हुआ—'सामान्य बोली' या 'लोक बोली'। दूसरे शब्दों में, इसे भिन्न भाषा-भाषियों के बीच व्यवहार में लाई जाने वाली कोई सामान्य या आम 'बोली' अथवा 'भाषा' कहा जाता है। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रयोजनीयता को ध्यान में रखते हुए इस भाषा रूप को अँग्रेज़ी में कॉन्टेक्ट लैंग्वेज (Contact Language) या लिंक लैंग्वेज (Link Language) भी कहा गया। इसका उद्देश्य सर्वथा भिन्न था। ऐसा भाषा-रूप जो भिन्न-भिन्न कार्यकलापों को व्यवहार में लाने के लिए सर्वमान्य और सम्प्रेषणीय हो सके। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि अँग्रेज़ राजसत्ता ने भारतीय जन-समुदाय में अपने राजकीय उद्देश्यों और आपसी व्यवहार में सम्प्रेषण के लिए, अँगरेज़ी के माध्यम से सम्पर्क साधने का काम किया था। फिर भी, उन्हें हिन्दी के माध्यम से सम्पर्क में आने को बाध्य होना पड़ा। इतना ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में जहाँ-जहाँ राजभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में वहीं की कोई भाषा स्वीकृत है, वहाँ भी अँग्रेज़ी ही आज सम्पर्क भाषा का दायित्व सफलतापूर्वक निभा रही है।

भारत में स्वतन्त्रता-पूर्व परिवेश में हिन्दी के लिए जब राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग किया जाता था तो सम्पर्क भाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा को एक ही अवधारणा के अन्तर्गत समझा जाता था। किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में अन्तर आया। जैसे हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा अथवा राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक रूप में कहने का अभिप्राय था कि हिन्दी सम्पूर्ण भारत में बोली और समझी जाने वाली राष्ट्रभाषा है, सरकार की राजभाषा है और साथ ही विभिन्न दैनिक क्रियाकलापों में सारे देश को एक सूत्र में पिरोनेवाली सम्पर्क भाषा भी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान में हिन्दी को भारत को 'राजभाषा' घोषित कर दिया गया। तब इसका दायित्व और बढ़ गया। भारतीय संघ की अनेक क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के साथ-साथ हिन्दी

के प्रचार-प्रसार का विधिवत, सन्तुलित और पूर्वग्रह मुक्त प्रयोग सबका समान कर्तव्य बन गया। सभी क्षेत्रों, प्रदेशों (राज्यों) में अपनी-अपनी भाषाओं के साथ-साथ सारे राष्ट्र में पारस्परिक व्यवहार, आदान-प्रदान, विचार-विमर्श, संचार-संवाद और अखिल भारतीय स्तर पर पत्र-व्यवहार आदि के लिए सभी विद्वानों, शिक्षाविदों और राजनेताओं ने सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को चुना। सन् 1963 के राजभाषा अधिनियम में हिन्दी के साथ अँगरेज़ी को अस्थायी तौर पर सह-राजभाषा के रूप में स्वीकार तो किया गया, पर हिन्दी को ही सारे देश में सम्पर्क का माध्यम माना जाने लगा। यह अनुभव किया गया कि अब सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिकाओं और पारस्परिक क्रियाकलाप के लिए प्रयोग में लायी जानेवाली अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को सक्षम बनाया जाए, ताकि सम्पर्क भाषा के रूप में इसका विस्तार क्षेत्र न केवल प्रशासनिक कार्यों तक सीमित हो बल्कि अधिक-से-अधिक सामाजिक प्रयोजनों, प्रकार्यों और व्यवहारों के लिए अधिक से अधिक क्षेत्रों और राज्यों में इसकी ग्राह्यता बढ़ सके। ऐसा होने पर सम्प्रेषण की समस्या दूर होगी और सारे देश में आन्तरिक सह-सम्बन्ध की भावना भी विकसित होगी।

सम्पर्क भाषा : हिन्दी का स्वरूप

'सम्पर्क भाषा' की कोई सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं की गयी फिर भी दो या अधिक भाषा-भाषियों के बीच पारस्परिक वार्तालाप, आपसी व्यवहार, आदान-प्रदान, मेल-मिलाप, यातायात-सम्पर्क और विभिन्न सामाजिक प्रयोजनों-प्रकार्यों की सहजता, सरलता और प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषणीय बनाने में सक्षम भाषा को सम्पर्क भाषा कहा जाता है। इस कार्य के लिए 'हिन्दी' भाषा ही सर्वमान्य सिद्ध हुई। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। जैस—दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि राज्यों में लोग आपसी व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग करते हैं। जबकि वहाँ अनेक क्षेत्रीय बोलियाँ भी विकसित हैं। परन्तु ये सभी राज्य हिन्दी-भाषी राज्य हैं, इसलिए यहाँ हिन्दी का प्रयोग पूर्णरूप से सम्पर्क भाषा के रूप में नहीं माना जाता। दूसरी ओर कोई दिल्लीवासी जब बंगलौर, तिरुवनन्तपुरम, चेन्नई आदि दक्षिण राज्य के शहरों में जाएगा या वहाँ के लोग दिल्ली आदि राज्यों में आएँगे तो खाने-पीने, यातायात का उपयोग करने आदि अनेक दैनिक और सामाजिक जीवन-व्यवहार में प्रयोग में लायी जाने के कारण हिन्दी को निश्चित ही सम्पर्क भाषा कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में आज 'सम्पर्क भाषा' अपने पूर्व अँगरेज़ी शब्द 'लिंग्वा फ्रेंका' से

तकनीकी तौर पर भिन्न और कहीं अधिक निश्चित तथा प्रकार्यात्मक रूप में विशिष्ट है।

हिन्दी की सम्पर्क भाषा के रूप में स्थिति को समझते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि (क) दिल्ली, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि आठ प्रदेशों में तो हिन्दी राजभाषा का दर्जा प्राप्त कर चुकी है। इन राज्यों को संविधान में 'क' वर्ग के अर्थात् हिन्दी-भाषी राज्य कहा गया। (ख) पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र आदि अर्ध-हिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी को द्वितीय स्थान प्राप्त है। इसलिए प्रायः हिन्दी यहाँ सम्पर्क भाषा कम, राजभाषा के रूप में अधिक मानी जाती है। इन राज्यों को संविधान में 'ख' वर्ग के राज्य कहा जता है। (ग) 'ग' वर्ग के कहे जाने वाले तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक और केवल आदि अहिन्दी-भाषी राज्य हैं। इन राज्यों में हिन्दी का प्रयोग सामान्य-जीवन-व्यवहार में भिन्न भाषा-भाषियों के साथ बखूबी हो रहा है। इनके अतिरिक्त नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम, कश्मीर में भी औपचारिक और अनौपचारिक रूप में हिन्दी का प्रयोग बहुतायत में हो रहा है। यहाँ के पर्यटन, व्यापार, विज्ञान, लोककलाओं और लोक उत्पादों को इसका लाभ मिलता है। इन्हें बढ़ावा देने के लिए हिन्दी एक सर्व-सक्षम सम्पर्क भाषा का माध्यम बनी हुई है।

सम्पर्क भाषा : हिन्दी का परिप्रेक्ष्य

सदियों से सम्पूर्ण भारत में सम्पर्क भाषा का दायित्व निभानेवाली भाषा 'हिन्दी' ही है। स्वतन्त्रता संग्राम में विभिन्न राज्यों के स्वतन्त्रता सेनानी और देशभक्त क्रान्तिकारी हिन्दी भाषा के माध्यम से पारस्परिक विचार-सूत्र साधने में सफल होते थे। आज़ाद हिन्द फ़ौज की सम्पर्क भाषा हिन्दी ही थी। इस सन्दर्भ में महात्मा गांधी के विचार उल्लेखनीय हैं—''मैं अँगरेज़ी से घृणा नहीं करता। लेकिन यह बात ज़रूर है कि मैं हिन्दी से अधिक प्रेम करता हूँ...हिन्दी के माध्यम से ही हम दूसरे प्रान्तों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का विकास कर सकते हैं।...मैं प्रान्तीय भाषाओं के साथ हिन्दी को भी मिला देना चाहता हूँ, जिससे एक प्रान्त दूसरे के साथ अपना सजीव सम्बन्ध जोड़ सके। इससे प्रान्तीय भाषाओं के साथ हिन्दी की भी श्री-वृद्धि होगी।'' (गांधी : 'हिन्दी दर्शन', दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृ. 79-83)

स्पष्ट है कि आज व्यापार-वाणिज्य, खेलकूद, खानपान, ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी-प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में हिन्दी की प्रकार्यात्मक और प्रयोजनीय क्षमता

और लोकप्रियता प्रमाणित हुई है। भारत में 'केबल संस्कृति' की बाढ़ के कारण विभिन्न सरकारी और प्राइवेट केबल-चैनल के नेटवर्क में हिन्दी का सर्वाधिक उपयोग हो रहा है, क्योंकि इसके द्वारा उनका सम्पर्क अधिक से अधिक दर्शकों से होने के कारण उन्हें व्यावसायिक लाभ भी अधिक मिलता है।

सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी पर्याप्त विकसित और उच्च स्तर की है। विश्व के अधिकांश देशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार हो रहा है। अमरीका, रूस, चीन, जापान, जर्मनी, कोरिया आदि अनेक विकसित देशों में वहाँ के 100 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा का विधिवत् अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। इसका लाभ जहाँ एक ओर वहाँ के निवासियों और भारतीयों के बीच आपसी वार्तालाप और मेल-मिलाप में होता है, तो दूसरी ओर अपने-अपने देश के उत्पादों को भारतीय बाजारों में प्रचारित-प्रसारित करने के लिए अँगरेज़ी भाषा के साथ-साथ हिन्दी जानने वाले विदेशियों को सम्प्रेषण-सम्पर्क की समस्या से नहीं जूझना पड़ता।

संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) में अंग्रेज़ी, फ्रेंच, रूसी, चीनी और स्पेनिश आदि भाषाएँ स्वीकृत हैं। अब हिन्दी को भी स्वीकृत कराने का भरसक प्रयास हो रहा है। इस प्रयास से सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी की प्रभावशीलता का उद्‌घाटन सहज रूप में हो जाता है।

राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा हिन्दी में अन्तःसम्बन्ध

1. किसी भी भाषा को 'राष्ट्रभाषा' कह दिया जाना वहाँ की राष्ट्रीय विचारधारा का प्रतीक माना जाता है। 'राजभाषा' के द्वारा शासकीय कार्यालयी और औपचारिक प्रयोजनों में सर्वस्वीकृति को लक्षित किया जाता है। 'सम्पर्क भाषा' में दो या अधिक भाषा-भाषियों के बीच आपसी, दैनिक व्यवहार, वार्तालाप, अनेक सामाजिक, व्यावसायिक, आर्थिक प्रयोजनों का सफल सम्पर्क, निष्पादन और सम्प्रेषण होता है। संयोगवश उपर्युक्त तीनों प्रयोजनों के निर्वाह का दायित्व हिन्दी सहजता से निभा रही है।

2. राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण देश में सामान्य जन समुदाय द्वारा प्रयुक्त होने वाली कोई एक सर्व-स्वीकृत भाषा होती है। अपने निश्चित प्रशासनिक, सरकारी व्यवहार क्षेत्रों में प्रयुक्त होनेवाली कोई एक भाषा 'राजभाषा' घोषित की जाती है; जबकि कभी-कभी सम्पर्क भाषा एक से अधिक भी हो सकती हैं। जैसे अंग्रेजों के शासन में प्रायः अँगरेज़ी को सम्पर्क भाषा माना जाता था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद

हिन्दी को मुख्यतः सम्पर्क भाषा के लिए सक्षम माना गया। भारतीय नेताओं, विद्वानों और शिक्षाविदों द्वारा हिन्दी की व्यावहारिक प्रयोजन-क्षमता को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लिया गया।

3. राजभाषा की अस्मिता का स्रोत संविधान होता है। लेकिन सम्पर्क भाषा की अस्मिता सामाजिक प्रयोजन और प्रकार्यात्मकता पर निर्भर करती है। सम्पर्क भाषा का विकास प्रायः प्राकृतिक और स्वैच्छिक आधार पर होता है और सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा संचालित होता है। सम्पर्क भाषा ही प्रायः परिपक्व, सर्व-स्वीकृत और लोकप्रियता के आधार पर राष्ट्रभाषा भी बन सकती है। जापान, अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस, ज़र्मनी आदि देशों में राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में उन देशों की अपनी एक ही भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसे देशों को भी किसी-न-किसी सम्पर्क भाषा की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में अँगरेज़ी भाषा ही इनके लिए सम्पर्क भाषा का माध्यम बनी हुई है।

4. विशिष्ट और तकनीकी अर्थों में दो या अधिक भाषा-भाषियों के बीच सम्प्रेषण-सम्पर्क स्थापित करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता है वह 'सम्पर्क भाषा' कहलाती है; जबकि 'राजभाषा' के लिए यह आवश्यक नहीं होता। समान भाषा-भाषियों के बीच भी उनकी अपनी भाषा राजभाषा हो सकती है। लेकिन 'सम्पर्क भाषा' में प्रमुख रूप से दो या अधिक भाषा-भाषियों का होना आवश्यक है। दो स्वायत्त भाषाओं के बीच की सम्पर्क भाषा इन दोनों में से एक भी हो सकती है या कोई तीसरी भी। जैसे हिन्दी और बंगला-भाषियों के बीच हिन्दी सम्पर्क भाषा का काम कर सकती है किन्तु बंगला-भाषियों और मराठी भाषा-भाषियों के बीच सम्पर्क भाषा हिन्दी जैसी तीसरी भाषा हो सकती है।

5. सम्पर्क भाषा 'हिन्दी' का प्रयोग जब सामाजिक और अनौपचारिक व्यवहार में जिन-जिन क्षेत्रों में होता है, वहाँ हिन्दी पर क्षेत्रीय भाषाओं का थोड़ा-बहुत अवश्य प्रभाव पड़ता है। जैसे—तमिल और तेगुलु भाषा-भाषी हिन्दी भाषा का प्रयोग करते समय अपनी-अपनी भाषाओं के उच्चारण और शैली का मिश्रण अवश्य करता है। यही प्रभाव इसके शव्द भण्डार पर भी पड़ता है। हालाँकि इससे सम्पर्क भाषा समृद्ध होती है। राजभाषा का स्वरूप मौखिक और लिखित रूपों में मानकीकृत होता है। इस कारण अखिल भारतीय स्तर पर राजभाषा 'हिन्दी' में भी एकरूपता रहनी आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि किसी भाषा को धीरे-धीरे प्रौढ़ और मानकीकरण की प्रक्रिया से अनिवार्यतः गुजरना पड़ता है। राष्ट्रभाषा होने के नाते हिन्दी में सम्पर्क-सूत्र स्थापित

करने में सबको सुविधा होती है क्योंकि हिन्दी का शब्द भण्डार, वाक्य संरचना तथा व्याकरण के अन्य नियम-उपनियम सर्व सामान्य रूप में प्रचलित और स्वीकृत हैं।

6. 'सम्पूर्ण देश में जनता की सोच, आस्था, विश्वास, धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा समाज के विभिन्न निजी और विविधतापूर्ण व्यावहारिक पहलुओं, धारणाओं और लोकगीतों का दृष्टिकोण राष्ट्रभाषा के द्वारा प्रसारित होत है, पर सम्पर्क भाषा का व्यवहार क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित, सामयिक तथा तात्कालिक होता है। जैसे—हिन्दी और कन्नड़ भाषा-भाषी आपस में मिलने पर एक-दूसरे का हाल-चाल जानने, किसी विशेष स्थान या दिशा की जानकारी लेने अथवा किसी सार्वजनिक अथवा प्राइवेट वाहन से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने की जानकारी ले सकता है ताकि वह अपना दैनिक कार्य सरलता से सम्पन्न कर सके। इसके ठीक विपरीत राजभाषा में प्रशासन, विधि-कानून और कार्यालयी कार्य-पद्धति की बाध्यता रहती है, जो इसे औपचारिक और सीमित बना देती है। स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में 'हिन्दी' कहीं अधिक विस्तृत और अनौपचारिक रूप लिये हुए है। यह विभिन्न तीर्थों, उत्सवों-मेलों, हाट-बाजारों, रेस्तराँ और अन्य सार्वजनिक स्थानों में विचार-विनिमय का प्रकार्य सिद्ध करती है। पर राजभाषा के रूप में 'हिन्दी' का व्यवहार-क्षेत्र केवल प्रशासन तथा कार्यालय तक सीमित रहता है।

7. 'सम्पर्क भाषा' के रूप में हिन्दी सदियों से प्रयोग में लायी जा रही है, चाहे मुग़ल-शासन-काल हो या अँगरेज़ों का शासन रहा हो। शाही दरबारों, वजीरों और कारिंदों द्वारा कुछ विशेष शाही प्रयोजनों के लिए भले ही फारसी का प्रयोग होता रहा, लेकिन आम जनता के विचार-विनिमय और सम्पर्क-संचार की भाषा 'हिन्दी' ही रही। यही स्थिति ब्रिटिश शासन में भी थी। मुस्लिम और ब्रिटिश शासकों ने भारत की आम जनता से सम्पर्क बनाए रखने के लिए आम जनता की भाषा 'हिन्दी' को ही माध्यम बनाया। हिन्दी के 'राष्ट्रभाषा' रूप की अवधारणा मुख्यतः भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान विकसित हुई। देश को एक सूत्र में बाँधने, अपनी जातीय अस्मिता जगाने और एकजुट होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सभी राजनेताओं विद्वानों, शिक्षाविदों और साहित्यकारों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। 'राजभाषा' के रूप में प्रयोजन-क्षमता, प्रशासकीय कार्य-पद्धति तथा औपचारिक प्रकार्यों को सम्पन्न करने के लिए भी 'हिन्दी' को चुना गया। इसलिए स्वतन्त्रता के बाद संविधान के निर्माण में हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया गया और इसके प्रयोग की विभिन्न नियमावली बनायी गयी।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'हिन्दी' की सम्पर्क-क्षमता में कोई सन्देह नहीं है। इस सन्दर्भ में 'हिन्दी' को केन्द्र में रखकर अनेक प्रकार के बहुभाषा-भाषी या द्वि-भाषी कोशों का निर्माण अनेक संस्थाओं द्वारा हुआ है। दक्षिण भारत के सभी राज्यों में 'हिन्दी प्रचार सभा' और अन्य संस्थान आदि इस ओर निरन्तर प्रयासरत हैं। फिर भी, सम्पर्क भाषा हिन्दी के राष्ट्रव्यापी रूप को ध्यान में रखते हुए इसके शब्द भण्डार, उच्चारण, व्याकरण और प्रयोग-व्यवहार की दृष्टि से समरूपता और स्थिरता की ओर अग्रसर रहना अनिवार्य है। यह भी निर्विवाद सच है कि जिन राज्यों में हिन्दी आज भी 'राजभाषा' का दर्जा नहीं प्राप्त कर सकी, वहाँ 'राष्ट्रभाषा' 'हिन्दी' ही निश्चित रूप से सम्पर्क भाषा का सामर्थ्यपूर्ण और व्यावहारिक दायित्व निभा रही है।

हिन्दी भाषा का विकास

हिन्दी के विविध नाम रूप

हिन्दी का परिचय प्राप्त करने से पहले, यहाँ 'हिन्दी' का तात्पर्य स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। 'हिंदी' से अभिप्राय यहाँ उस व्यापक भाषा-रूप से नहीं जिसके अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी, हिन्दी, ब्रज, अवधी, बिहारी, मैथिली, भोजपुरी, पहाड़ी राजस्थानी, हरियाणवी, बुन्देली, बघेली और खड़ी बोली आदि सभी उपभाषाएँ तथा बोलियाँ समाविष्ट हैं। यहाँ 'हिन्दी' का अभिप्राय उस खड़ी बोली–हिन्दी से है जो तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में एक सामान्य लोकबोली थी। उस समय और पाँच सौ वर्ष बाद तक भी हिन्दी साहित्य (काव्य) की भाषा तो 'ब्रज' और 'अवधी' रही। कहीं-कहीं मैथिली, राजस्थानी तथा बुन्देली का भी प्रयोग कुछ अंश तक काव्य के अन्तर्गत होता रहा। वैसे इसी ब्रज और अवधी में रचित काव्य में 'खड़ी बोली' का पुट भी आरम्भ से, विशेषतया कबीर की वाणी से मिलने लगता है, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक, उत्तर भारत के हिन्दी-क्षेत्र में रचे जाने वाले साहित्य की भाषा सामान्यतः ब्रज और अवधी ही रही। उसे प्रायः 'भाषा' या 'भाखा' कहा जाता था, जैसा कि मध्ययुग के अनेक कवियों की वाणी में उल्लेख है–

1. संसिकरत कबिरा कूप जल, **भाषा** बहता नीर। (कबीर)
2. लिखि **भाखा** चौपाई कहै। (जायसी)
3. **भाषा** भनिति मोर मति थोरी। (तुलसी)
4. **भाखा** बोल न जानहीं, जाके कुल के दास। (केशव)
5. दसम कथा भागौत की, **भाखा** कही बनाइ। (गुरु गोविन्दसिंह)
6. **भाषा** योगवासिष्ठ (संस्कृत से अनुवाद)। (रामप्रसाद निरंजनी)

यह 'भाषा' या 'भाखा' थी तो 'हिंदी' का ही एक रूप, परन्तु ऐतिहासिक

विकास-परम्परा में 'हिंदी' शब्द का प्रचलन उस 'हिन्दुई' अथवा 'हिंदवी' शब्द से हुआ जो उसे अधिकतर मुसलमान कवियों ने दिया। उससे पहले चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अमीर खुसरो (जिनका देहावसान 1326 ई. में हुआ) ने 'खालिकवारी' नामक फारसी-हिन्दी कोश में इस शब्द का प्रयोग किया है–

हिन्दवी आनन्द शादी ओ सरूर॥17॥

(फारसी 'शादी' और 'सरूर' को हिन्दवी' में 'आनन्द' कहते हैं।)

खुसरो ने कहीं-कहीं 'हिन्दवी' के स्थान पर 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किया है–

कोह दर हिन्दी पहाड़ आमद यकीं॥21॥

('कोह' को हिन्दी में 'पहाड़' कहते हैं।)

इसके पश्चात् पंद्रहवीं शताब्दी में मलिक मुहम्मद 'जायसी' ने भी 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग किया–

तुरकी अबरी हिंदवी भाषा जेती आहिं।

अठारहवीं शताब्दी में एक अन्य सूफी कवि नूर मुहम्मद ने लिखा है–

का जो बहुतै हिंदी भाष्यौ।

जिस प्रकार, मुसलमानों के भारत में आगमन के समय (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में) यहाँ के हिन्दुओं की जो लोक-बोली थी (जिसे बाद में 'खड़ी बोली' कहा गया), उसी को मुस्लिम कवियों, फकीरों, सूफियों आदि ने 'हिन्दुई', 'हिंदवी' और फिर 'हिंदी कहना शुरू किया।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने इसी लोक-बोली (आज भाषा और साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों में इसी को 'खड़ी-बोली' कहा जाता है) में अपार पद्य-रचना की। उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ और दोसुखने आज भी आम जनता में प्रसिद्ध हैं।

अमीर खुसरो ने ही 'खालिकबारी (फारसी-हिंदी कोश) के माध्यम से फारसी-हिन्दी के मिश्रित प्रयोग में शैली चलाई। इससे अधिकतर मुस्लिम कवियों और साहित्यकारों ने इसी मिश्रित शैली में रचनाएँ कीं।

चौदहवीं शताब्दी में ही, यह मिश्रित शैली उत्तर भारत से दक्षिण भारत में पहुँची और 'दक्षिणी', 'दक्खिनी' या 'दक्कनी' कहलाई। अलाउद्दीन खिलजी (1296 ई.

से 1316 ई.) ने चौदहवीं शताब्दी के शुरू में गुजरात और दक्षिण (देवगिरि—जिसे बाद में दौलताबाद का नाम दिया गया) के अन्य भागों को जीतकर वहाँ इस्लामी शासन स्थापित किया। उनकी सेनाओं और शासन-अधिकारियों के साथ-साथ कई सूफी फकीर के वहाँ जाकर बस गए। वे इधर से दिल्ली के आसपास की उस लोक-बोली 'हिन्दुई' या 'हिंदवी' को भी अपने साथ ले गए जिसका प्रयोग वे बहुत पहले से करने लगे थे। दक्षिण की स्थानीय भाषाओं की अपेक्षा, उन्होंने उसी 'हिंदवी' को अपने कार्य-व्यवहार तथा साहित्य का माध्यम बनाया। एक विशेष शैली में ढली उनकी यही 'हिंदवी' इधर उत्तर भारत के हिन्दी क्षेत्र में 'दक्षिणी', 'दक्खिनी' या 'दकनी' हिन्दी कहलाई। यह नाम केवल उनकी शैली की पहचान के लिए दिया गया था, जो बाद में सब जगह रूढ़ हो गया।

1316 ई. में जब कुतुबुद्दीन मुबारक शाह ने दक्षिण के देवगिरि (दौलताबाद) पर अधिकार किया तब अमीर खुसरो भी शाही फौज के साथ थे। वहाँ खुसरो ने अपनी शैली में कुछ काव्य-रचना भी की। इस तरह चौदहवीं शताब्दी के शुरू में ही उत्तर भारत की 'हिन्दी' दक्षिण में पहुँच गई। धीरे-धीरे उसका वहाँ खूब विकास हुआ। अठारहवीं शताब्दी तक वह निरन्तर उत्कर्ष करती रही। बीजापुर और गोलकुंडा राज्य की तो वह (दक्खिनी हिन्दी) राजभाषा ही बन गई।

दिल्ली (उत्तर भारत) और देवगिरि (दौलताबाद), बीजापुर, गोलकुंडा तथा गुजरात, महाराष्ट्र के साथ लगते कर्नाटक और आन्ध्र के क्षेत्रों के बीच राजनीतिक सम्पर्क सूत्र जुड़ने के कारण सामाजिक, व्यावसायिक और साहित्यिक सम्पर्क एवं आवागमन और आदान-प्रदान स्वाभाविक है। इसके परिणामस्वरूप उत्तर भारत के हिन्दी क्षेत्र में भी 'दक्खिनी' हिन्दी की रचना-शैली का प्रवेश और प्रसार हुआ। तब यहाँ इस 'मिश्रित' बोली को 'रेखता' कहा गया। 'रेखता' या 'रेख़्ता' फारसी के 'रेख़्तन' शब्द से बना है जिसका अर्थ है—मिश्रित या टेढ़ा-मेढ़ा।

यह **रेखता** या **रेख़्ता** कोई अलग भाषा नहीं, अपितु एक शैली थी जिसमें परम्परागत हिन्दी शब्दावली (जो संस्कृत से विकसित हुई थी) के साथ-साथ फारसी के तद्भव (कुछ बदले हुए) शब्दों का भी मिश्रित प्रयोग रहता था। व्याकरणिक ढाँचा, वाक्य-विन्यास आदि हिन्दी का ही था, केवल शब्द-स्रोत भारतीय और फारसी मिश्रित रहता था। इसका उद्देश्य शायद दो संस्कृतियों, समाजों को परस्पर निकट लाकर समन्वय स्थापित करना था। धीरे-धीरे वह 'रेख़्ता' शैली बहुत लोकप्रिय हुई। कबीर (पंद्रहवीं शताब्दी) ने भी अपनी वाणी में इसका प्रयोग किया। इस शैली के बहुप्रयोग का यह परिणाम हुआ कि एक विशेष प्रकार के ऐसे छन्द या काव्यरूप

को भी 'रेख्ता' कहा जाने लगा जिसमें फारसी की 'गजल', 'मसनवी' या 'बहर' आदि के साँचे में हिन्दी (हिंदवी) कविता लिखी जाती थी। कबीर के 'सबद', 'साखी' आदि के समान 'रेख्ते' भी प्रसिद्ध हैं।

'रेख्ता' शैली तत्कालीन शासक वर्ग (मुसलमान) तथा आम जनता (हिंदू) के लिए सहज-सुबोध थी अतः इसका पर्याप्त प्रचलन हुआ। यहाँ तक कि उत्तर मध्ययुग के एक प्रतिष्ठित जन-कवि नागरीदास ने अपनी अन्य रचनाओं के अतिरिक्त 'रेखता' नाम से एक स्वतन्त्र पद-संग्रह भी प्रस्तुत किया। उसका एक उदाहरण इस प्रकार है–

उस ही की सुनी सिफ्त कौं किसी जुवाँ में होय।
कादर नादर हुस्न का कृष्ण कहा या सोय॥

उल्लेखनीय है कि भारतीय मूल के अधिकांश कवि मध्ययुग में जब ब्रज, अवधी आदि में रचना कर रहे थे, वहीं मुसलमान सूफी, संत, फकीर त्था शाही सम्पर्क में रहने वाले अन्य रचनाकार मिश्रित शैली अर्थात् 'रेख्ता' का प्रयोग कर रहे थे।

तात्पर्य यह कि खुसरो के समय की 'लोक-बोली' ही दक्षिण में 'दक्खिनी हिन्दी' के रूप में विकसित हुई। वही दक्खिनी हिन्दी जब साहित्य-यात्रा के प्रवाह में, उत्तर भारत के हिन्दी क्षेत्र में पहुँची तो उसे 'रेख्ता' या 'रेखता' नाम प्राप्त हुआ। यही 'रेख्ता' अठारहवीं शताब्दी के बाद 'उर्दू' के रूप में विकसित और प्रचलित हुई।

इस प्रकार 'दक्खिनी हिन्दी', 'हिन्दवी' (तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की लोक-बोली–खड़ी बोली) और रेख्ता–उर्दू–हिन्दुस्तानी के बीच का पड़ाव-बिन्दु या मिलन-सेतु है।

दक्खिनी हिन्दी

नामकरण : जैसा कि पीछे दी गई पूर्वपीठिका से स्पष्ट है, 'हिन्दी' के साथ 'दक्षिणी' विशेषण इसके दक्षिण भारत से सम्बन्ध का संकेत करता है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में, दिल्ली-मेरठ, आगरा-मथुरा आदि क्षेत्रों में जो लोक-बोली 'कौरवी' या 'बाँगरू' आदि के नाम से प्रचलित थी, उसे मुस्लिम शासकों ने भी धीरे-धीरे अपनाया। चौदहवीं शताब्दी में खिलजी और बलबन शासकों का दक्षिण भारत के कर्नाटक, आन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात (ये सब आधुनिक नाम हैं) आदि पर आधिपत्य हो गया तो दिल्ली-मेरठ की लोक-बोली राजकीय कर्मचारियों, सैनिकों तथा सूफी-संतों, दरवेशों के साथ दक्षिण में भी जा पहुँची। मध्यदेश और भारत की मूल हिन्दी से उसे अलगाने के लिए उसका नामकरण 'दक्षिणी हिन्दी' हो गया।

'दक्षिणी' का ही तद्भव रूप 'दक्खिनी' है। मुस्लिम शासक, उनके कर्मचारी और अधिकारी, सूफी-संत और दरवेश—हिन्दी की तत्सम शब्दावली की बजाय उसके तद्भव रूपों का ही अधिक प्रयोग करते थे, अतः 'दक्षिणी हिन्दी', **'दक्खिनी हिन्दी'** कहलाने लगी।

इस 'दक्खिनी हिन्दी' पर जब तुरकी-अरबी तथा फारसी की रंगत कुछ गहरी होने लगी तो यह 'दक्खिनी' से 'दकनी हिन्दी' हो गई जो कि महाप्राण ध्वनियों को अल्पप्राण के रूप में उच्चरित करने की प्रवृत्ति (जैसे 'ख' को 'क') का परिणाम था।

इस 'दक्खिनी' या 'दकनी' हिन्दी के प्रयोक्ता अधिकतर मुस्लिम समुदाय के लोग थे। यहाँ तक कि हिन्दी के मूल उद्भव-स्थान मध्यदेश और उत्तरी क्षेत्र में भी इसका प्रयोग मुस्लिम शासकों तथा साहित्यकारों ने (जनता से अधिकाधिक निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए) किया, अतः 'दक्खिनी' हिन्दी का एक अन्य नाम **'मुसलमानी हिन्दी'** भी प्रचलित रहा। भारतीय भाषाओं का विशेष उल्लेख करने वाले 'हॉब्सन-जॉब्सन' कोश में 'दक्खिनी हिन्दी' को हिन्दुस्तानी (अभिप्राय 'हिन्दी' से है) की 'बड़ी विचित्र' बोली बताते हुए कहा गया है कि यह दक्षिण के मुसलमानों द्वारा बोली जाती है। साथ ही यह भी उल्लेख किया गया है कि यह यहाँ की 'स्वाभाविक भाषा' है—"Very Peculiar dialect of Hindustani spoken by such people (Mohammadan inhabitant of Deccan)..."..."The Deccani language which is the natural language of the country."—Hobson Jobson; Page 233-34.

'दक्खिनी हिन्दी' क्योंकि 'देहली' से दक्षिण में गई, अतः वहाँ (दक्षिण) के लोगों ने इसे **देहलवी हिन्दी** भी कहा है।

दक्षिण में इसके प्रचार-प्रसार का कार्य विशेष रूप से उन क्षेत्रों में हुआ, जहाँ गुर्जर-समुदाय के लोग अधिक थे। खिलजी और बलबन वंश के शासकों ने पहले-पहल गुजरात में ही अपने शासन की नींव डाली, अतः कहीं-कहीं इसी 'दक्खिनी हिन्दी' को **'गूजरी हिन्दी'** भी कहा गया।

इस प्रकार, दक्षिणी, दक्खिनी, दकनी, मुसलमानी, देहलवी, गूजरी—यह सब 'दक्खिनी हिंदी' के ही अन्य नाम हैं।

दक्खिनी हिन्दी का स्वरूप : भाषा-वैज्ञानिकों ने 'दक्खिनी हिन्दी' को 'फारसी आवरण में भारतीय आत्मा' की संज्ञा दी है। इसका अधिकांश शब्द-भंडार भारतीय मूल का है जिसमें ब्रज, बाँगरू, राजस्थानी, खड़ी बोली आदि शब्दों की प्रचुरता है। इसका व्याकरणिक ढाँचा पूर्णतः संस्कृत से विकसित होने वाली भारतीय भाषाओं

के समान—विशेषतया हिन्दी-व्याकरण के अनुसार है। उत्तरी भारत की हिन्दी से इसका अन्तर केवल शैली के स्तर पर है। इसकी रचनाएँ संस्कृत-प्राकृत या हिन्दी के छंदों और काव्य रूपों में आबद्ध न होकर, अधिकतर फारसी रचना-शैली तथा काव्यरूपों में रचित हैं। एक अन्य उल्लेखनीय पहलू यह है कि इस ('दक्खिनी हिन्दी') की अधिकांश रचनाएँ **'फारसी लिपि'** में लिखी गईं।

भाषा तथा साहित्य के स्तर पर 'दक्खिनी हिन्दी' का स्वरूप हिन्दी और फारसी का मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है। भारतीय जन-जीवन के लोक-आख्यानों तथा अन्य पहलुओं पर आधारित ये रचनाएँ अपने समकालीन युग की एक यथार्थ झलक प्रस्तुत करती हैं। अहमदनगर, देवगिरि (दौलताबाद), विजयनगर, औरंगाबाद, गोलकुंडा, बीजापुर आदि क्षेत्रों का चौदहवीं से अठाहरवीं शताब्दी तक का लोक-जीवन 'दक्खिनी हिन्दी' की विभिन्न रचनाओं में प्रतिबिम्बित है। विशेषता यह है कि 'दक्खिनी हिन्दी' में 'पद्य' के अतिरिक्त 'गद्य' में भी पर्याप्त रचना हुई। हिन्दी के मूल केन्द्र मध्य देश या उत्तर भारत में हिन्दी-गद्य की रचनाएँ बहुत बाद में मिलती हैं, इस दृष्टि से 'दक्खिनी हिन्दी' को हिन्दी गद्य का पृष्ठाधार माना जा सकता है।

चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में स्थापित 'बहमनी साम्राज्य' के पाँच प्रमुख खंड या भाग रहे—बरार, बीदर, गोलकुंडा, अहमदनगर और बीजापुर। दक्खिनी हिन्दी के भी यह पाँच प्रमुख केन्द्र माने जा सकते हैं।

इन सभी क्षेत्रों की 'दक्खिनी हिन्दी' का स्वरूप सर्वत्र एक जैसा नहीं है। औरंगाबाद और देवगिरि की दक्खिनी हिन्दी का मराठीपन का प्रभाव है, जबकि गुलबर्गा तथा बीजापुर की दक्खिनी हिन्दी कन्नड़ का पुट लिए हुए है। गोलकुंडा और हैदराबाद की दक्खिनी हिन्दी में तेलुगु का प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु दक्खिनी हिन्दी के स्वरूप की यह विविधता अधिकतर बोलचाल और जन-प्रयोग के स्तर पर है, साहित्यिक स्तर पर उसमें पर्याप्त एकरूपता है।

'दक्खिनी हिन्दी' के प्रारम्भिक रचनाकारों में ये चार नाम विशेष प्रसिद्ध हैं—

(1) ख्वाज़ा बन्दा नवाज़ (1318-1422 ई.)

(2) शाहमीरानजी (चौदहवीं शताब्दी)

(3) शाह बुरहानुद्दीन जानम (शाहमीरानजी के पुत्र)

(4) निज़ामी (पंद्रहवीं शताब्दी)

पंद्रहवीं शताब्दी में 'दक्खिनी हिन्दी' के क्षेत्र दो अलग धाराओं में बँट गए—(1) बीजापुर की आदिलशाही धारा, (2) गोलकुंडा की कुतुबशाही धारा। ऊपर जिन कवियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से शाहमीरानजी तथा उनके पुत्र शाह

बुरहानुद्दीन जानम का सम्बन्ध बीजापुर के **आदिलशाही निज़ाम** में विकसित होने वाली दक्खिनी हिन्दी से था। इनके अतिरिक्त मुकीमी, बनामी, रुस्तमी, नुसरती आदि कवि भी आदिलशाही क्षेत्र में हुए। **गोलकुंडा की कुतुवशाही** के अंतर्गत वजही, गवासी, निशाती, गुलामअली और सेवक आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। चौथे कुतुवशाही सुल्तान मुहम्मदअली कुतुवशाह स्वयं दक्खिनी हिन्दी के श्रेष्ठ कवि थे। इनका काव्य-संग्रह 'कुल्लियात' के नाम से प्रसिद्ध है।

दक्खिनी हिन्दी में रचित प्रमुख कृतियों के नाम इस प्रकार हैं–

(1) मिराजुल आशिकीन (ख़्वाजा बन्दानावाज़) गद्य-बहुल रचना
(2) कदमराव व पदम (निज़ामी) काव्य
(3) सबरस (वजही) गद्य-ग्रन्थ
(4) उतुलमुश्तही (वजही) काव्य
(5) मसनवी सैफुलमुल्क (गवासी) काव्य
(6) बदीउज्जमाल (गवासी) काव्य
(7) तूतीनामा (गवासी) काव्य
(8) मसनवी फूलबन (निशाती) काव्य
(9) खूब तरंग (मुहम्मद हुसैन 'खूब') काव्य
(10) युसूफ जुलेखा (अमीन) काव्य

इनके अतिरिक्त वली औरंगाबादी (अठारहवीं शताब्दी) दक्खिनी हिन्दी के अन्तिम बहुचर्चित कवि थे। बाद में ये जब दिल्ली आए तो यहाँ के उर्दू लेखकों के अनुरोध पर इन्होंने दक्खिनी हिन्दी की बजाय उर्दू में लिखना शुरू कर दिया।

'दक्खिनी-हिन्दी' की लोकप्रिय पद्य एवं गद्य रचनाओं में प्रयुक्त भाषा ब्रज, खड़ी बोली, मेवाती, अवधी तथा बाँगरू की बहुलता है, अरबी-फारसी का हल्का पुट है—वह भी 'तत्सम'-रूप में न होकर 'तद्भव'-रूप में। किन्तु धार्मिक स्तर की रचनाओं में अरबी-फारसी शब्दावली की बहुलता एवं हिंदवी का हल्का-सा पुट है।

'दक्खिनी हिन्दी' के कुछ उदाहरणों द्वारा, उसके भाषायी स्वरूप का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है–

(क) केतक मर्दां बहुत गदरी अछते हैं, नाकदरी अछते हैं। कद्र नहीं जानते, महनत नहीं पछानते। ज्यूँ खुसरो का कता है–

पंखा होकर मैं डुली, साती तेरा चाव।
मुज जलती जनम की तेरे लेखन बाव॥

(वजही, सबरस, पृ. 156)

(ख) अपने 'हेडा' अपै खाना, अपना लहू अपै पीना, तो दुनिया में भला आदमी होकर जीना। बुरे आदमी बहा-फुसला भला जानते, दगा दे जानते। (वजही; सबरस, पृ. 39)

'हेडा' शब्द दक्खिनी हिन्दी में 'मांस' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अमीर खुसरो ने भी फारसी 'गोश्त' का यही पर्याय बताया है–

'गोश्त हेड़ा चर्म चमड़ा...' (खालिकबारी-16)

(ग) खुमारे हिज्र ने जिसको दिया है, दर्द दिल मुझकूँ। (वली)

(घ) निकला है जो सितमगर तेगे अदा कूँ लेकर।
सीने में मुज आसक के, अब फतेयाब होगा॥ (वली)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'दक्खिनी हिन्दी' दिल्ली-मेरठ, आगरा-मथुरा की ही 'हिन्दी' का फारसी लिपि में प्रस्तुत किया गया रूपान्तरण है। हाँ, वली (सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी) के उदाहरणों से यह झलक भी स्पष्ट मिल जाती है कि, उसके समय से 'दक्खिनी हिन्दी' धीरे-धीरे 'रेखता' की ओर तथा 'रेखता' उर्दू की ओर अग्रसर होने लगी थी। भाषा और साहित्य के अधिकांश इतिहासकार वली को 'दक्खिनी हिन्दी' का अंतिम तथा 'उर्दू' का प्रथम कवि मानते हैं। इन दोनों ('दक्खिनी हिन्दी' और 'उर्दू') के बीच का पड़ाव 'रेखता' है।

हिन्दुस्तानी

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ है–हिन्दुस्तान की अर्थात् भारतीय। जिस प्रकार प्राचीन काल में 'भारत मात्र की' भाषा के लिए 'हिन्दी', 'हिन्दुई' अथवा 'हिन्दवी' शब्दों का प्रयोग मिलता है, उसी प्रकार 'हिन्दुस्तानी' शब्द के भी 'भारतीय भाषा' के अर्थ में प्रयोग के प्रमाण मध्ययुग से ही प्राप्त होते हैं। बाबर द्वारा लिखित आत्मकथा में लिखा है, "मैंने उसे (दौलत खाँ लोधी को) अपने सामने बैठाकर एक व्यक्ति को–जिसे 'हिन्दुस्तानी' (भाषा) का भलीभाँति ज्ञान था, अपनी एक बात को उसे समझाने का आदेश दिया।" (देखिए–मुगल-कालीन भारत, डॉ. रिजवी, पृ. 145) इसी प्रकार सम्राट शाहजहाँ के शासन-काल में रचित 'तारीख-ए-फरिश्ता' और 'बादशाहनामा' नामक पुस्तकों में भी 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग 'भारतीय भाषा' के अर्थ में मिलता है। 1715 ई. में पादरी जे.जे. केटलीर द्वारा रचित 'हिन्दी व्याकरण' का नाम भी 'हिन्दुस्तानी ग्रामर (Hindustani Grammar) है। स्पष्ट है कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द बहुत पहले से 'हिन्दी' भाषा के पर्याय-रूप में प्रयुक्त होता रहा है।

1800 ई. में स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता के तत्कालीन प्रिंसिपल गिलक्रिस्त (गिलक्राइस्ट) ने हिन्दी-फारसी मिश्रित भाषा-रूप को 'हिन्दुस्तानी' कहा। 1823 ई. में कैप्टन विलियम प्राइस फोर्ट विलियम कॉलेज में 'हिन्दुस्तानी विभाग' के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' को क्रमशः 'साहित्यिक' और 'बोलचाल की' भाषाओं के रूप में पृथकतः रेखांकित किया। कुछ समय पश्चात् 'उर्दू' को 'हिन्दुस्तानी' माने जाने लगा। (देखिए—हेनरी यूल तथा बर्नेल-कृत 'हाब्सन-जॉनसन' नामक कोश—Hundustani Zaban the language of that country but in fact the language of the Mohamedans of Upper India. It is also called 'Urdu'..) किन्तु बीसवीं शती के प्रथम चरण में 'हिन्दुस्तानी' का अभिप्राय हिन्दी भाषी क्षेत्र के जनसामान्य की बोलचाल की हिन्दी-उर्दू-मिश्रित सरल-सहज भाषा हो गया। 'हिन्दुस्तानी'—अर्थात् 'सरल हिन्दी' या 'सरल उर्दू' या 'दोनों का मिला-जुला सहज रूप।'

भारत के राष्ट्रीय जागरण से जुड़े विभिन्न आन्दोलनों में 'हिन्दुस्तानी' का यही अर्थ और स्वरूप उभरकर सामने आया। अँगरेजी शासकों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के कारण जब 'हिन्दी' और 'उर्दू' को क्रमशः 'संस्कृतनिष्ठ' और 'फारसीनिष्ठ' रूप की सीमाओं में बाँधकर इन्हें 'हिन्दुओं' और 'मुसलमानों' की विभेदक दीवार बनाने के प्रयत्न शुरू हुए तो राष्ट्रीय नेताओं ने इस स्थिति को टालने के लिए 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् 'मिली-जुली सहज भाषा' को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। महात्मा गांधी इस धारणा के प्रवर्त्तक थे। उन्हीं की प्रेरणा से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में, तत्कालीन अध्यक्ष राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने प्रस्ताव रखा कि 'भविष्य में कांग्रेस की कार्यवाही हिन्दुस्तानी में हो।'

गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी'-सम्बन्धी इस धारणा का आमतौर पर सभी क्षेत्रों में समर्थन हुआ। प्रेमचन्द, सुदर्शन, यशपाल, हरिकृष्ण प्रेमी जैसे साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में 'हिन्दी' की इसी 'हिन्दुस्तानी' शैली को स्थान दिया। यथा—

'अगर मेरी जवान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती तो मैं सव स्त्रियों से कहती—वहनों! किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना।...परिवार तुम्हारे लिए फूल की सेज नहीं काँटों की शय्या है...। संसार में हजारों विधवाएँ हैं जो मेहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह कर रही हैं। मैं भी उसी तरह मजदूरी करूँगी।...जो अपना पेट भी न पाल सके उसे जीते रहने का, दूसरों का वोझ वनने का कोई हक नहीं।' (—'गवन', प्रेमचन्द)

इसके अतिरिक्त हिन्दी-फिल्मों के तेजी से होने वाले प्रचार ने तो 'हिन्दुस्तानी' को हिन्दी-भाषी क्षेत्र में ही नहीं, अहिन्दी-भाषी राज्यों, यहाँ तक कि विदेशों में भी पहुँचा दिया। आज प्रायः सभी सार्वजनिक स्थानों (सिनेमा, क्लब, होटल, क्रीड़ांगन, चौपाल, तीर्थ, राजनीतिक सभा, बस, रेल, अस्पताल आदि) में जिस 'हिन्दी' का प्रयोग होता है, वह 'हिन्दुस्तानी' ही है जिसमें उर्दू-फारसी के साथ-साथ अँगरेजी की भी बहु-प्रचलित, व्यावहारिक शब्दावली दूध-पानी की तरह घुल-मिल गई है। 'मुझे तुरन्त कार्यालय पहुँचना चाहिए क्योंकि मेरे वरिष्ठ अधिकारी ने मुझे तुरन्त आने के लिए संदेशा भेजा है।' और 'मुझे फौरन दफ्तर (ऑफिस) पहुँचना चाहिए, क्योंकि मेरे बॉस ने मुझे फौरन आने के लिए मैसेज भेजा है।'—ये दोनों वाक्य 'हिन्दी' के ही हैं, हाँ, पहले की शैली संस्कृतनिष्ठ 'हिन्दी' है और दूसरे की 'हिन्दुस्तानी'।

निष्कर्ष यह है कि 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी', 'उर्दू' और 'हिन्दुस्तानी' अलग भाषाएँ न होकर, हिन्दी की ही प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक शैलियाँ हैं। एक उदाहरण से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाएगी—

संस्कृतनिष्ठ हिन्दी : महात्मा गांधी की छत्रछाया में समस्त भारतवासियों ने पूर्णतः संगठित होकर स्वातन्त्र्य-संग्राम में योगदान किया। गांधीजी के संरक्षण में ही भारत सामाजिक, शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर हुआ। गांधीजी यद्यपि व्यक्तिगत रूप से हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, तथापि अन्य सभी सम्प्रदायों, धर्मों तथा जातियों के प्रति भी उनके हृदय में समान आदर-भाव था।

उर्दू : महात्मा गांधी के जेर-ए-साया तमाम हिन्दोस्तानियों ने मुकम्मिल तौर पर यकजा होकर जंग-ए-आजादी में तआबुन दिया। गांधीजी के सरपरस्ती में ही हिन्दोस्तान समाजी, तालीमी व रूहानी तरक्की की तरफ बढ़ा। गांधीजी गरचे जाती तौर पर हिन्दू मजहब के पैरोकार थे लेकिन तमाम दीगर फिरकों, मजहबों व कौमों के बारे में भी उनके दिल में यकसाँ इज्जत थी।

हिन्दुस्तानी : महात्मा गांधी की देख-रेख में सभी भारतवासियों ने पूरी तरह एकजुट होकर आजादी की लड़ाई में हिस्सा लिया। उन्हीं की सरपरस्ती में भारत ने समाज, शिक्षा और आत्मिक उन्नति की ओर कदम बढ़ाया। गांधीजी स्वयं भले ही हिन्दू धर्म को मानते थे लेकिन अन्य सभी वर्गों, धर्मों और जातियों के सम्बन्ध में भी उनके मन में एक-जैसा आदर का भाव था।

ऊपर दिए गए उदाहरणों में एक ही कथन तीन अलग-अलग शैलियों में प्रस्तुत किया गया है; किन्तु लिपि एक ही (देवनागरी) है। **भाषा के निजत्व या**

पृथक् स्वरूप की पहचान लिपि न होकर उसका व्याकरणिक विधान है। यही तीनों अंश यदि फारसी लिपि (जिसमें प्रायः उर्दू लिखी जाती है) में होते जो शायद कुछ लोग उन्हें 'उर्दू' ही कहते। वास्तव में भाषा एक ही है—हिन्दी, उसे तीन अलग शैलियों में प्रस्तुत किया गया है।

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी

अपभ्रंश : नामकरण और सन्दर्भ-स्रोत

'अपभ्रंश' मूलतः किसी एक भाषा का नाम न होकर, सामान्य जन-समुदाय में प्रयुक्त होने वाली आम बोलचाल की लोक-भाषाओं अथवा विभिन्न देशी बोलियों का विशेषण है। 'संस्कृत' और 'प्राकृत' भी मूलतः भाषा-नाम न होकर विशेषण थे। संस्कृत-संस्कारयुक्त (सुधरी हुई), प्राकृत-स्वाभाविक (प्रांकृतिक या मूल, प्रकृति की अनुसारिणी) इसी सन्दर्भ में 'अपभ्रंश' का अर्थ है—'बुरी तरह भ्रष्ट'। 'अप' उपसर्ग का अभिप्राय 'बुरी', 'हीन' आदि है—(अपमान, अपश्रुति, अपशब्द) तथा 'भ्रंश' (भ्रष्ट) का अर्थ है 'विचलित, उचित मार्ग (व्याकरणिक नियम-सिद्धान्तों) से हटी हुई।

कतिपय प्राचीन संस्कृत-कोशों में 'अपभ्रंश' शब्द का अर्थ ही 'अपशब्द' बताया गया है। (अपभ्रंशोऽपशब्दः स्यात्—अमरकोश 1,6,2); अपभ्रंशास्तु पतने भाषा भेदापशब्दयोः 1—मेदिनी कोश—30, 31, अपभ्रंशो भाषाभेदापशब्दयोः 1—अनेकार्थ संग्रह—4, 323 अपभ्रंशों दुष्पतने भाषाभेदापशब्दयोः। विश्व प्रकाश 4,381। 'शब्दकल्पद्रुम' (पृष्ठ 229) में कहा है कि 'साधु (शिष्ट) शब्द की शक्ति के विफल हो जाने पर प्रयुक्त होने वाला अन्यथा (कोई अन्य, बदले हुए) उच्चारण से युक्त अपशब्द 'अपभ्रंश' है। भर्तृहरि ने 'वा प्यपदीय' में ब्रह्मकांड (148) में संस्कृत के प्राचीन व्याकरणाचार्य व्याडि के दस कथन उद्धृत करते हुए कहा है—'संस्कारहीन शब्द 'अपभ्रंश' है।' भर्तृहरि ने 'अपभ्रंश' को 'असाधु' तथा 'परम्परा से विकृत' आदि भी कहा है। पाणिनि के महान भाष्यकार पतंज़लि ने 'अपभ्रंश' के पर्याय-रूप में प्रचलित 'अपशब्द' का अभिप्राय 'व्याकरणिक नियमों से पतित (भ्रष्ट अर्थात् हटा हुआ)' बताया है। (अपशब्दत्वं व्याकरणानुगत शब्दस्येषद्भ्रंशन एवं प्रसिद्धमिति भावः।)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की तुलना में जो लोकभाषा संस्कार-हीन, व्याकरण-विहीन, अनगढ़, टूटी-फूटी (विकृत या भ्रष्ट) शब्दावली से युक्त, अशिष्ट, अपरिमार्जित मानी गई, उसे संस्कृत से सुसंस्कृत आचार्यों ने 'अपभ्रंश' कहा।

व्याकरणिक नियमों की अनभिज्ञता और उच्चारण की सुविधा या सहजता के कारण सामान्य जन-समुदाय की भाषा में ऐसी विकृति-भ्रष्टता या अनगढ़ता-सी स्वाभाविक थी। शास्त्रीय शुद्धता और परिनिष्ठता के परिप्रेक्ष्य में भले ही वह 'अपभ्रंश' (अप + भ्रष्ट) मानी गयी किन्तु लोक-प्रयोग की सहजता और उन्मुक्त, स्वच्छन्द भावानुकूल वाणी होने के कारण, उसी 'अपभ्रंश' को अनेक विद्वानों ने 'श्रेष्ठ', 'भव्य' और 'सरस' भी कहा है—

(क) संस्कृताद् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंश भाषणम्। (संस्कृत से प्राकृत श्रेष्ठ है और उससे भी श्रेष्ठ है अपभ्रंश)। (जयदेव)

(ख) सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्। (अपभ्रंश बहुत भव्य और सरस लोकवाणी है)। (भोज, सरस्वती कंठाभरण—2, 10 एवं राजशेखर, बालरामायण—1,11)

जनभाषा के प्रयोग को महत्त्व देने की यही प्रवृत्ति भारतीय भाषा-चिंतन की प्रमुख विशेषता रही है। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में कहा है—'नाटकों की भाषा शौरसेनी के आधार पर संरचित होनी चाहिए। (शौरसेनी समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।) इसी ग्रंथ में एक उदाहरण है—'मोर ललउ नच्चंतउ। महागम संयंतउ। उल्लेखनीय है कि प्राकृत या अपभ्रंश के विभिन्न रूपों में 'शौरसेनी' सर्वप्रमुख और समृद्ध रही है। इसका सम्बन्ध भारत के मध्यदेश और 'महाराष्ट्र' (विशाल प्रदेश) के विस्तृत भू-भाग से रहा। (आज की राष्ट्रभाषा और राजभाषा-मानक हिन्दी इसी से विकसित हुई है।)

प्रसिद्ध काव्याचार्य वाग्भट्ट के कथनानुसार 'शुद्ध अप्रभ्रंश वह भाषा है जो अपने-अपने प्रांतों में बोली जाती है (वाग्भटालंकार)। इससे स्पष्ट है कि 'अप्रर्भ्रंश शब्द का प्रयोग 'देश भाषा या लोकभाषा' के लिए किया जाता था। कम-से-कम ईसा की दूसरी शताब्दी तक 'संस्कृत' और 'प्राकृत' की भाँति 'अपभ्रंश' भी साहित्य-भाषा के रूप में चर्चित होने लगी थी। आचार्य भामह (दूसरी शताब्दी) ने 'काव्यालंकार (1, 6) में भाषा के आधार पर काव्य के तीन भेद बताये हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। (संस्कृतं प्राकृतं चादन्यपभंश इति त्रिधा) विष्णुधर्मोत्तर पुराण (चौथी शताब्दी) में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीन प्रकार के गीतों के उल्लेख से भी उस समय अपभ्रंश की स्थिति स्पष्ट है। काश्मीरी शैवागम सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रंथ 'महार्थमंजरी' (192,3) में भी भाषा के रूप में 'अपभ्रंश' का स्पष्ट उल्लेख है। बाद में दंडी (छठी शताब्दीं) ने 'काव्यादर्श'; 1,36 में इन तीन (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश) काव्यभेदों के साथ 'मिश्रभाषा काव्य' नामक चौथे भेद का उल्लेख किया।

आचार्य रुद्रट (आठवीं-नौवीं शताब्दी) कृत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु ने 'अपभ्रंश' को 'आभीरी' भाषा बताते हुए विपुल काव्य-रचना का संकेत किया है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' (अध्याय-10) में, अपभ्रंश के पश्चिमी क्षेत्र में प्रचलित होने का भी उल्लेख किया है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनंदवर्धन (नौवीं शताब्दी) ने अपभ्रंश में प्रबंधकाव्यों के साथ-साथ 'मुक्तक काव्यों की रचना का भी उल्लेख किया है। इसके उपरान्त तो, आचार्य हेमचन्द्र (तेरहवीं शताब्दी) से लेकर आचार्य विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) तक सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने बिना किसी लाग-लपेट के 'अपभ्रंश' की चर्चा-विवेचना की है। वल्लभी-नरेश धरसेन के शिलालेख (छठी शताब्दी) से भी ज्ञात होता है कि तब तक अपभ्रंश का पर्याप्त प्रचलन हो चुका था।

इस प्रकार, अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि छठीं-सातवीं शताब्दी तक अपभ्रंश एक स्वतंत्र स्वायत्त भाषा का रूप ले चुकी थी, परन्तु उसमें रचित कृतियों का क्रमवद्ध, व्यवस्थित विवरण आठवीं शताब्दी से पहले नहीं मिलता। इसका कारण तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अव्यवस्था और असुरक्षा-जन्य परिस्थितियाँ मानी जा सकती हैं। बाद में, जब विभिन्न जैन कवियों और बौद्ध सिद्धों द्वारा इसे (अपभ्रंश को) विधिवत प्रश्रय प्राप्त होने लगा तब एक धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक आस्था का सम्बल पाकर अपभ्रंश प्रचुरता से पल्लवित पुष्पित हुई। इसका उत्कर्ष-काल आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

इस कालावधि में रचित विभिन्न रचनाओं को ही हम अपभ्रंश सम्बन्धी **सन्दर्भ-स्रोत** मान सकते हैं। इनमें प्रमुख और विशेष उल्लेखनीय नाम इस प्रकार हैं :

(1) **स्वयंभू (आठवीं-नौवीं शताब्दी के मध्य)**–पउम चरिउ (पद्मचरित), रिट्ठेनेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित)।

(2) **पुष्पदन्त (दसवीं शताब्दी)**–महापुराण, णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित), जसहरचरिउ (यशोधर चरित)। इन्होंने स्वयंभू का उल्लेख आदरपूर्वक किया है।

(3) **पद्म कीर्ति (दसवीं शताब्दी)**–पास चरिउ (पार्श्वचरित)।

(4) **धनवाल या धनपाल (दसवीं शताब्दी)**–भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त कथा)।

(5) **हरिषेण (दसवीं शताब्दी)**–धम्म परिक्खा (धर्म परीक्षा)।

(6) **मुनि रामसिंह (ग्यारहवीं शताब्दी)**–पाहुड़ दोहा। ('पाहुड़'–'उपहार' अर्थात् 'उपहार दोहा')।

(7) जोइंदु (योगीन्द्र) (ग्यारहवीं शताब्दी)–परमात्मप्रकाश।

(8) जिनदत्त सूरि (बारहवीं शताब्दी)–उपदेस रसायन रास।

इसी युग में सरहपा, कण्हपा, लूइपा, शांतिपा आदि बौद्ध सिद्धों के चर्यागीत तथा दोहे आदि भी अपभ्रंश-साहित्य के स्रोत-सन्दर्भ हैं।

'अपभ्रंश' के भाषिक और व्याकरणिक स्वरूप का सबसे अधिक स्पष्ट और सुव्यस्थित विवेचन करने वाले आचार्य हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी) हैं। इनके 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन', 'प्राकृतानुशासन', 'छन्दोऽनुशासन' और 'देशी नाममाला' आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'प्राकृत पैंगलम्' (संकलन-काल लगभग चौदहवीं शताब्दी) भी अपभ्रंश-सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-स्रोत है। इसमें पूर्ववर्ती और समकालीन अपभ्रंश-रचनाकारों के अनेक उदाहरण संकलित हैं। इस विशाल ग्रंथ के मूल संकलनकर्ता या संपादक का नाम अज्ञात है। इसकी विभिन्न टीकाओं में से वंशीधर-रचित टीका अधिक प्रचलित है।

उल्लेखनीय है कि 'अपभ्रंश' वस्तुतः 'प्राकृत' का ही विकसित रूप है अतः उसकी भाषिक संरचना बहुत–कुछ 'प्राकृत' के ही समान है। इसीलिए 'प्राकृत' भाषा या व्याकरण सम्बन्धी रचनाओं को अपभ्रंश के सन्दर्भ स्रोत के रूप में ग्रहण करना स्वाभाविक है।

इसी क्रम में, ज्योतिरीश्वर ठाकुर रचित 'वर्णरत्नाकर' (1325 ई.) तथा दामोदर-कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' भी अपभ्रंश के भाषिक और व्याकरणिक अध्ययन-विवेचन के लिए महत्त्वपूर्ण संदर्भ-स्रोत हैं।

अपभ्रंश का भाषिक स्वरूप (व्याकरणिक एवं शब्दकोशगत प्रवृत्तियाँ अथवा विशेषताएँ)

सामान्य प्रवृत्तियाँ : (1) अपभ्रंश प्रायः **उकार-बहुला** भाषा है। हेमचन्द्र कृत सिद्धहेमशब्दनुशासन (8, 231) में भी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। उदाहरण–मणु, सबु, बणु, पउम चरिउ, कंतु आदि।

(2) अपभ्रंश क्रमशः **संश्लिष्ट (संयोगात्मक या योगात्मक)** से विश्लिष्ट (वियोगात्मक या अयोगात्मक) होती चली गई है। संस्कृत में परसर्ग (विभक्तियाँ) मूल प्रतिपादिक में ही संश्लिष्ट (अन्तर्भुत अर्थात् जुड़ी हुई) रहती हैं रामम्, रामेण, माम्, त्वाम्, त्वयि आदि; जबकि अपभ्रंश में परसर्ग प्रायः अलग होने की प्रवृत्ति पनपने लगी–रामहि, बण मज्झि।

(3) **अनुस्वार-प्रधानता** (अनुनासिकता) अपभ्रंश में एक अन्य सामान्य प्रवृत्ति

प्रतीत होती है। एक तो संस्कृत में जहाँ नासिक्य ध्वनि के रूप में स्पर्श व्यंजन-वर्गों के पंचम् वर्ण (ङ्, ञ, ण्, न्, म्) के प्रयोग की प्रवृत्ति है—भुजङ्ग पश्चल दण्ड, शान्त आदि; वहाँ अपभ्रंश में ऐसी नासिक्य ध्वनि के लिए प्रायः अनुस्वार के प्रयोग दिखाई देता है—भुअंग (मध्यवर्ती व्यंजन (ज) का लोप भी) चंचल, दंड > डंडा (दंत्य द > मूर्धन्य ड) सांत (शांत) (श > स) आदि। दूसरे वैसे भी आद्य (आरम्भिक) अथवा मध्यती स्वरों में कहीं-कहीं अनुनासिकता का तत्त्व जुड़ता प्रतीत होता है—अश्रु > अंसु, पक्षी> पंखी आदि।

(4) अपभ्रंश में निरंतर सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास प्रायः दिखायी देता है। इस सरलीकरण के अनेक आयाम अथवा स्तर हैं। उदाहरणतया संस्कृत के संश्लिष्ट (संयोगात्मक या योगात्मक), समस्त या संधि-युक्त पदों का शुद्ध उच्चारण जन-सामान्य द्वारा सम्भव नहीं था, अतः उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से उनका सरलीकरण होने लगा—राजकुल> राउल (मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन का लोप), दृष्टि> दिट्ठि> दीठ (ऋ>इ, संयुक्त ष्ट>ट्ठ बाद में मध्यवर्ती इ>ई) पुष्कर<पोखर, श्मशान> मसाण इत्यादि।

इसी प्रकार संस्कृत में गण (भ्वादि, तुदादि); लकार (लट्, लृट् लोट्, लङ् विधिलिङ् आदि), लिंग और वचन आदि के विविध भेदों के कारण धातु (क्रियाओं) और नाम (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि) के अनेकानेक रूप बनते हैं। जैसे—संज्ञा-सर्वनामों में तीन वचन, तीन लिंग के कारण, उनसे सम्बद्ध नौ क्रिया-रूप (हर काल में), कारकों में चौबीस तथा लंकार-भेदों के अन्तर्गत भी अनेक रूप बनते हैं। पालि-प्राकृत युग से ही रूप-रचना की यह जटिलता कम होने लगी। अपभ्रंश में और भी सरलीकरण हो गया। लिंग और वचन-संख्या तीन की बजाय दो रह गई। कारकों के प्रायः तीन वर्ग बन गए। 1-2-8,3-7, 4-5-6 अर्थात् कर्त्ता-कर्म-सम्बोधन में करण और अधिकरण में तथा संप्रदान, अपादान और सम्बन्ध कारक में किसी संज्ञा के एक-जैसे रूप ही प्रयुक्त होने लगे। अधिकांश कारक-रूपों में 'हिं' विभक्ति से ही काम चलाया जाने लगा। (रामहिं > राम का, बणहिं > वन में आदि)।

संस्कृत की संश्लिष्टता या जटिलता का एक आयाम उसका संधि-समास सम्बन्धी विधान है जिसमें सरल ध्वनियाँ और रूप भी जटिल हो जाते हैं। अपभ्रंश में संधि-समास की कोई नियमित या निश्चित व्यवस्था नहीं है। संस्कृत के संधियुक्त या समासयुक्त पदों को ही अधिकांशतः सरलीकृत रूप में प्रयुक्त करने के विभिन्न उदाहरण अपभ्रंश में मिलते हैं।

संस्कृत की संयुक्ताक्षर—परिपाटी (क्ष, त्र, ज्ञ, दृ, प्र, स्त, ष्ट आदि) का अपभ्रंश

में विशेष सरलीकरण हुआ। कई संयुक्त ध्वनियों का समीकरण हो गया (अग्नि>अग्गि, अद्य > अज्ज); कहीं द्वित्वीकरण (पुत्र-पुत्त, सूत्र-सुत्त) और कहीं एकदम सरलीकरण (षष्ठ > छठ, चतुर्थ > चउथ)।

(5) अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्तियों के तद्भव शब्दों के अतिरिक्त देशज शब्दों के प्रयोग, संस्कृत के तिङंत की अपेक्षा कृदन्त रूपों की बहुलता आदि भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी प्रवृत्तियों को आगे क्रमशः ध्वनि, रूप-रचना एवं शब्दकोश आदि के अन्तर्गत अलग-अलग सोदाहरण विवेचित किया गया है।

ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ

स्वर–अपभ्रंश में भारतीय आर्यभाषाओं के पूर्ववर्ती स्वरों में दीर्घ ऋ, ह्रस्व एवं दीर्घ लृ और ऐ-औ का अभाव है। दूसरी ओर ह्रस्व ए (ऍ) और हल्व ओ (ऑ) ध्वनियां अपभ्रंश स्वरों में विद्यमान हैं।

अपभ्रंश में स्वर-विन्यास सम्बन्धी कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ) इस प्रकार हैं–

1. आद्य (शब्द में सबसे पहला) स्वर प्रायः यथावत्–अद्य>अज्ज, शिर>सिर, केंलि>खेल्ल।
2. कहीं-कहीं आद्य स्वर का दीर्घीकरण–संध्या>सांझ, जिह्वा>जीहा, विश्वास>बीसास।
3. कहीं-कहीं आद्य दीर्घ स्वर का ह्रस्वीकरण–चामर>चंदर।
4. कहीं-कहीं मध्य स्वर का ह्रस्वीकरण–गंभीर>गाहिर।
5. कहीं-कहीं अंतिम स्वर का दीर्घीकरण–श्यामल>सांमला।
6. कहीं-कहीं अन्तिम स्वर का ह्रस्वीकरण–वार्ता>वात्त।
7. आरम्भिक उ>अ>मुकुट>मउड, मुकुल>मउल।
8. आरम्भिक ऊ>ए–नुपूर>णेउर।
9. आरम्भिक उ>ओ–पुस्तक>पोथी, पुष्कर>पोखर।
10. ऋ का उच्चारण अधिकांशतः 'रि' के रूप में–ऋद्धि>रिद्ध, ऋषि>रिसि, ऋक्ष>रिच्छ।
11. कहीं-कहीं ऋ>इ–गृद्ध>गिद्ध, दृष्टि>दिट्ठ, हृदय>हिय, अमृत>अमिय।
12. कहीं ऋ>उ–पृथ्वी>पुहुमी, शृणु>सुणु।
13. कहीं ऋ>ए–गृह>गेह।
14. कई जगह ऐ का उच्चारण 'अइ'–चैत्र>चइत (त्र>त), बैर>वइर।
15. औ का उच्चारण 'ओ'–यौवन>जोवण, मौक्तिक>मोत्तिअ।

16. कहीं-कहीं निरनुनासिक (अ-नासिक्य) स्वर सानुनासिक (नासिक्य ध्वनि-युक्त) रूप में उच्चरित—ग्राम>गांम, अश्रु>अंसु, श्यामल—सांमला।
17. कहीं-कहीं उपर्युक्त प्रवृत्ति के विपरीत सानुनासिक स्वर निरनुनासिक रूप में उच्चारित होने की प्रवृत्ति—सिंह>सीह, विंशति>बीस।

व्यंजन : व्यंजन ध्वनियों से सम्बन्धित अपभ्रंश की सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य प्रवृत्ति यह है कि इसमें ङ्, ञ् ध्वनियों का पूर्णतया अभाव तथा न व्यंजन का विरल प्रयोग दिखायी देता है। संयुक्त व्यंजन क्ष, त्र, ज्ञ भी अपभ्रंश में अलक्षित हैं। इनके स्थान पर क्रमशः द्वित्व अथवा समीकृत (ज्ज, द्द, म्म आदि) व्यंजन-ध्वनियों के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है।

अपभ्रंश की व्यंजन सम्बन्धी एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि यह प्रायः **टवर्ग प्रधान** है। इसमें 'न' के स्थान पर 'ण' के उच्चारण की प्रवृत्ति तो प्रमुख हैं ही, कहीं-कहीं त, द भी ट, ड रूप में उच्चरित होते हैं—मृत्तिका>मिट्टिअ, दोला>डोला।

अपभ्रंश की व्यंजन-विन्यास सम्बन्धी कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. आदि व्यंजन प्रायः (कुछ अपवादों को छोड़कर) पूर्ववर्ती आर्यभाषाओं की ही भाँति उच्चरित होता है (अर्थात् यथावत रहता है)। पुष्प>पुहुप, मौक्तक>मोत्तिअ, राजकुल>राउल, पुत्र>पुत्त, दुग्ध>दुद्ध।
2. उपर्युक्त प्रवृत्ति के अपवाद रूप में आद्य य>ज, व>ब, न>ण, श>स आदि उदाहरण भी मिलते हैं—युवती>जुबई, वदन>बदन, नगर>णअर, शिर>सिर।
3. य व्यंजन पदांत (शब्द के अन्त में) होने पर कई बार इसका उच्चारण दोहरे 'ज्ज' के रूप में होने की प्रवृत्ति है—शय्या सेज्जा।
4. कहीं मध्यवर्ती य (अर्द्धस्वर होने के कारण) 'इ' श्रुति देता है—नयन>णइण।
5. इसी प्रकार मध्यवर्ती व भी (अर्द्धस्वर होने के कारण) कहीं-कहीं 'उ' श्रुति देता है—लवण>लउण, पवन>पउण।
6. अन्यथा प्रायः सर्वत्र का उच्चारण ब के रूप में—कवि>कबि, वार>बार, सर्व>सब्ब।
7. न>ण यह प्रवृत्ति अपभ्रंश की प्रमुख पहचान है। 'न' ध्वनि का तो प्रायः अपभ्रंश, में अभाव ही है—नूपूर>णेउर, नगर>णअर।
8. श-ष>स-शीश>सीस, शेष>सेस, शर>सर, दृष्टि>द्रिस्टि, भविष्यत्>भविसयत्त।
9. 'श' ध्वनि पदांत होने पर प्रायः 'ह' के रूप में उच्चरित—दश>दह, एकादश>एआरह, द्वादश>बारह।
10. ष का उच्चारण कहीं ख—षट>खट, भाषा विशेष>भाखा विसेख।

11. अपभ्रंश की व्यंजन सम्बन्धी एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि वर्ग के पहले-तीसरे अक्षर (ब को छोड़कर) और य अक्षर मध्य में होने पर प्रायः इन (क-ग, च-ज, त-द, प-य) का लोप हो जाता है—सागर>साअर, नगर>नअर, सूची>सूई, रजत>रअत, विपुल>बिउल, नयन>णउण।
12. कभी-कभी मध्यवर्ती द का र उच्चारण—एकादश>एआरह, द्वादश>बारह।
13. कवर्ग और तवर्ग के दूसरे-चौथे (ख-घ, थ-ध) तथा पवर्ग के चौथे अक्षर (भ) के मध्यवर्ती होने पर इनका उच्चारण ह-मुखम्>मुंह, मेखला>मेहला, मेघ>मेह, बधिर>बहिर, गंभीर>गहिर।
14. कहीं-कहीं र > ल—हरिद्रा>हलिद्द (वर्तमान 'हल्दी')।
15. अन्त्य (पद के अन्त में) ण>न्ह या ण्ह-कृष्ण—कान्ह-काण्ह।
16. संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण की अनेकोन्मुखी (बहुआयामी) प्रवृत्ति अपभ्रंश की मूर्धन्य विशेषता है। जैसे—
    (क) समीकरण-संयुक्त व्यंजन के स्थान पर, पूर्ववर्ती व्यंजन का परवर्ती व्यंजन के समान उच्चरित होना—माणिक्य, माणिक्क, चक्र>चक्क, कर्म >कम्म, धर्म>धम्म।
    (ख) इसी प्रकार कहीं परवर्ती व्यंजन का पूर्ववर्ती व्यंजन के समान उच्चरित होना—निद्रा>णिद्दा, पुत्र>पुत्त, पक्व>पक्क।
    (ग) कहीं सरलीकरण (अर्थात् संयुक्त ध्वनियों के स्थान पर एकल ध्वनि का उच्चारण, प्रायः आरम्भ में संयुक्त व्यंजन होने पर)—श्यामल>सांमला, स्रोत>सोत, त्रिया>तिअ, प्रिय>पिअ।
    (घ) कहीं अन्तिम व्यंजन संयुक्त होने पर सरलीकरण (दो के स्थान पर एक ध्वनि)—पक्षी>पखी, रात्रि>राति।
    (ङ) संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण के सन्दर्भ में कुछ नियमित परिवर्तनों के भी रोचक उदाहरण अपभ्रंश में मिलते हैं—
    (अ) कहीं-कहीं ऋ या र का संयोग होने पर त वर्ग का ट वर्ग में परिवर्तन-मृत्तिका-मिट्टिआ (मिट्टी), धृष्ट>ढिट्ठ (ढीठ), वृद्ध>बुड्ढ (अपवाद पुत्र>पुत्त, दृष्टि>दिट्ठ)।
    (आ) पूर्ववर्ती र का अन्य अन्तस्थ (य-ल-व) व्यंजनों से संयोग होने पर 'र' निर्बल पड़ जाता है और परवर्ती व्यंजन के साथ द्वित्व का रूप लेते हुए कभी-कभी उसी में समा जाता है—कार्य>काय्य>काज्ज, दूर्बा>दूब्ब>दूब।

(इ) 'ह' को छोड़कर अन्य ऊष्म (श-ष-स) ध्वनियों का यदि स्पर्श व्यंजनों से (पंचमाक्षर ङ, ञ्, ण्, न्, म् को छोड़कर) संयोग हो तो समीकरण के साथ-साथ महाप्राणीकरण भी (क>ख, ग>घ, च>छ, ज>झ, ट>ठ, ड>ढ़ प>फ, ब>भ) हो जाता है—स्कंभ>खंभ, शुष्क>सुक्ख, वृश्चिक>विच्छिअ, हस्त>हत्थ, पुष्प>पुप्फ।

(ई) उपर्युक्त (इ) संदर्भ में ऊष्म व्यंजन (श-ष-स) पहले आये हैं। यदि संयुक्त ध्वनि में ये व्यंजन परवर्ती हो तो वे प्रायः 'छ' के रूप में उच्चरित होते हैं—अप्सरा>अच्छरा, वत्स>बच्छ, मत्स्य>मच्छ।

(उ) क्ष (क्+ष) कहीं-कहीं समान वर्ग के अल्पप्राण और महाप्राण के संयोग पर आधारित संयुक्त व्यंजन में बदल जाता है। उसमें भी दो विकल्प मिलते हैं—(1) क्ष>क्ख (2) क्ष>च्छ। उदाहरण—पक्ष>पक्ख, पच्छ।

(ऊ) कहीं-कहीं आद्य क्ष (क + ष) केवल ख या केवल छ के रूप में उच्चरित...क्षुर>छुर, खुर, क्षमा>क्षीर-खीर, छीर, क्षार>खार, छार।

(ए) यदि कहीं च वर्ग के पहले-दूसरे व्यंजन का संयोग (च्छ या चूछ) हो तो उसका उच्चारण क्रमशः उसी वर्ग के तीसरे चौथे व्यंजन के संयोग (ज्झ) के रूप में होता है—पृच्छ>बुज्झ।

(ऐ) कहीं-कहीं त्य>च्च—सत्य>सच्च, नित्य-निच्च, समारादित्य>समराइच्च (मध्यवर्ती द का लोप भी)।

(ओ) कहीं-कहीं द्य>ज्जज—विद्युत्>बिज्जु (अंतिम त् का लोप भी), विद्या>बिज्जा, वाद्य>बाज्ज।

(औ) कहीं-कहीं ध्य>ज्य—मध्य>मज्झ, उपाध्याय>उज्झा।

17. अपभ्रंश में व्यंजन सम्बन्धी एक अन्य प्रवृत्ति वर्ण विपर्यय (वर्णों की परस्पर अदला बदली) के रूप में मिलती है—वाराणसी>बाणरसी, वरण>बणर (+आ—बणड़ा)।

रूप-रचना सम्बन्धी विशेषताएँ

भाषा की रूप-रचना विभिन्न व्याकरणिक तत्त्वों और सिद्धांतों पर आधारित होती है। प्राचीन आर्यभाषाओं के अन्तर्गत संस्कृत की रूप-रचना विभिन्न भाषा शास्त्रीय नियमों में ऐसी व्यवस्थित है कि उसके प्रायः सभी रूप सुनिश्चित हैं, कहीं तनिक भी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं; व्याकरण-सिद्ध रूपों की शास्त्र-सम्मत संरचना का

अनुकरण किए बिना उसमें गति संभव नहीं। इसके विपरीत, अपभ्रंश में रूप-रचना सम्बन्धी कोई सिद्ध या सुनिश्चित भाषाशास्त्रीय आधार नहीं है। उल्लेखनीय प्रमुख प्रवृत्ति है—सरलीकरण की। संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के शब्द-रूप और क्रिया-रूप निश्चय ही पर्याप्त सरल हैं। संस्कृत में गण, लकार, तथा वचन आदि के भेद से शब्द-रूपों और क्रिया-रूपों में जो जटिलता है वह पालि-प्राकृत में दृष्टिगोचर नहीं होती। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति और प्रबल हो गई। द्विवचन लुप्तप्राय हो गया। नपुंसकलिंग भी विरल दिखायी देता है। कारकीय रूपों में संक्षिप्तता और न्यूनता आ गई।

संज्ञा

(1) संस्कृत की हलन्त न् (आत्मन्>राजन्) युक्त, इकारान्त (संधि, गति) और उकारान्त संज्ञाएँ अपभ्रंश में प्रायः अकारान्त (कहीं-कहीं आकारान्त) हो गई हैं—आत्मन्>आत्मा, राजन्>राजा, सुधि>सुध (सुह), गति>गत, ऋद्धि>रिद्ध, दृष्टि>दिट्ठ, साधु>साध (साह), इक्षु>इक्ख आदि।

(2) कहीं-कहीं स्वरांत संज्ञा पदों के अन्तिम स्वर का लोप—माला-माल।

(3) ऋकारांत (पुल्लिग) संज्ञा पदों में ऋ का र में परिवर्तन—पितृ>पितर, भ्रातृ>भ्रातर। (स्त्रीलिंग अपवाद—मातृ>मात।)

(4) कुछ संज्ञा पदों के अन्तिम हलन्त व्यंजन का लोप—मनस्>मन, जगत्>जग।

लिंग—अपभ्रंश में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप ही प्राप्त है। नपुंसकलिंग का प्रायः अभाव है (नपुंसकलिंग रूप प्रायः पुल्लिगवत हैं)।

वचन—संस्कृत का द्विवचन अपभ्रंश में नहीं है। दो ही वचन वाले रूप प्राप्त हैं—एकवचन, बहुवचन।

कारक—संस्कृत के आठ कारकों की भाँति अपभ्रंश में सभी के (एकवचन-द्विवचन-बहुवचन) अलग-अलग रूप नहीं हैं। द्विवचन तो वैसे ही नहीं, एकवचन और बहुवचन के भी कारकीय रूपों की भिन्नता स्पष्ट नहीं है।

संस्कृत में पुल्लिग व स्त्रीलिंग संज्ञा और सर्वनाम पदों के लिए अलग-अलग कारकीय विभक्तियों का जो विधान है उसका अपभ्रंश में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता।

कारक विभक्तियाँ (परसर्ग) भी अपभ्रंश में बहुत कम हैं—

कर्ता—कर्म-हिं (कहीं-कहीं) करण—सउं, सहं, तण, संप्रदान—केहि, तेहिं, अपादान—लइ, संबंध-कर, केर अधिकरण-मज्झि।

विशेषण

अपभ्रंश में गुणवाचक विशेषणों के रूपांतर संज्ञा के समान न होकर प्रायः मूलरूप में रहते हैं–अइस, जइस, कइस (ऐसा-ऐसी, जैसा-जैसी, कैसा-कैसी)। (कहीं-कहीं अपवाद रूप में उनका रूप संज्ञानुसारी भी मिलता है जैसे–ढोला सांमला/(पु.), आकरांत; धण चंपावण्णी स्त्री. ईकारांत।)

संख्यावाचक विशेषण–एक्क, दु. तिण्ण, चउ, पंच, छ, सत्त, अट्ठ, णव्, दस् (दह), एआरह (इगारह), बारह, तेरह, चउदह, पण्णदह, सोरह, सत्तारह, अट्ठारह, एगुबीस, बीस आदि।

परिमाणवाचक विशेषण–जेत्तिउ (जितने-जितनी) तेत्तिउ (उतने-उतनी), केत्तिउ (कितने-कितनी)।

क्रिया

अपभ्रंश के क्रिया-रूपों की रचना संस्कृत-पद्धति से सर्वथा विशिष्ट और भिन्न है। कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

धातु (मूल क्रिया)–रूपों की स्थिति यद्यपि संस्कृत के अनुसार है परन्तु उनका रूप सम्बद्ध ध्वनियों के अपभ्रंशीय (विकृत या परिवर्तित) रूप के अनुसार हो गया हैं। उदाहरणतया संस्कृत की कथ् धातु अपभ्रंश में 'कह' हो गई क्योंकि अपभ्रंश अघोष थ सघोष ह के रूप में उच्चरित होता है (वर्ग के दूसरे-चौथे (महाप्राण व्यंजन) का ह)। इसी प्रकार कहीं द्वित्व, कहीं अल्पप्राण + महाप्राण संयोग आदि के रूप में अपभ्रंश के धातु-रूप विकसित हुए हैं–चल्ल, बुज्झ, लिक्ख, रक्ख (रच्छ), बोल्ल उट्ठ आदि।

पूर्वकालिक क्रिया (मुख्य क्रिया से पूर्व होने वाली क्रिया, जैसे हिन्दी में–वह काम **करके** जाएगा, **पढ़कर** उठा, **लेकर** गया) की रूप रचना के लिए अपभ्रंश में स्वतन्त्र प्रत्ययों का विकास दिखाई देता है। (जबकि संस्कृत में क्त्वा-गत्वा, लिखित्वा, ल्यप्-(प्रणम्य) आदि प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं।)

ऐसे पूर्वकालिक क्रिया-रूप बनाने के लिए अपभ्रंश में इ, इउ, इवि, एणि आदि प्रत्यय लगाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है–करि (करके), चल्लिउ (चलकर), पढ़ेणि (पढ़कर), गावि (गाकर) आदि।

इसी प्रकार, अपभ्रंश में आज्ञार्थ क्रियाओं की रूप-रचना के लिए भी इ, उ, ह, हु प्रत्यय जुड़ जाने की प्रवृत्ति है–करि (करो)। चलउ (चलो), पढ़ह (पढ़ो), कहहु (कहो)।

प्रेरणार्थक क्रिया–रूपों के लिए प्रायः 'आव' प्रत्यय जुड़ जाता है–बैठाव (बिठाया) चलाव (चलाया)।

भावाच्यार्थ क्रिया–रूप प्रायः अन्त में 'ज्जई' या 'इज्जइ' प्रत्यय जुड़कर बनते हैं–करज्जई या करिज्जई (किया जाता है), कहज्जई या कहिज्जई (कहा जाता है।)

संयुक्त क्रिया-रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश की एक अन्य निजी विशेषता मानी ज़ाती है–सुक्खु करंत (सुखा देते हैं : 'सुखाना' और 'देना', क्रिया का संयुक्त प्रयोग)।

क्रियाओं की काल-रचना की दृष्टि से भी अपभ्रंश में पर्याप्त सरलीकरण की प्रवृत्ति मिलती है।

भूतकालिक क्रिया की रूप-रचना अपभ्रंश में एकदम सरल है। सभी पुरुषों, दोनों लिंग-वचनों में 'अ' प्रत्यय जुड़ने की प्रवृत्ति ही प्रमुख है–चलिअ (चला, चली, चले), पढ़िअ (पढ़ा, पढ़ी, पढ़े), करिअ (क्रिया, की, किये), लिखिअ (लिखा, लिखी, लिखे) आदि।

पूर्णकालिक क्रिया–रूपों के अन्तर्गत अस्ति (है)>'आछ्'-आसीत् (था)>रहे आदि उदाहरण मिलते हैं।

उदाहरण–

वर्तमान काल	**एकवचन**	**बहुवचन**
उत्तम (प्रथम) पुरुष	(हउं) चलउं (मैं चलता हूँ)	चलहुँ (हम चलते हैं)
मध्यम पुरुष	(तुहं) चलहि (तू चलता है)	चलहु (तुम चलते हो)
अन्य पुरुष	(ओह) चलइ (वह चलता है)	चलहिं (हम चलते हैं)

भविष्यत् काल (संस्कृत के ष्य का स और फिर स का ह, ष्य>स>ह)

उ. पु.	चलिहिउं	चलिहिहं
म. पु.	चलिहिहि	चलिहिउ
अ. पु.	चलिहिउ	चलिहिहिं

शब्दकोशीय प्रवृत्तियाँ

अपभ्रंश शब्दकोश में व्युत्पत्ति के आधार पर प्रायः रूढ़ि शब्दों की प्रचुरता है, यौगिक शब्द अत्यल्प हैं, वे भी संस्कृत के यौगिक शब्दों के कुछ परिवर्तित (विकृत्त) रूप में।

स्रोत के आधार पर अपभ्रंश की शब्दावली में तद्भवता की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है।

पालि-प्राकृत युग से ही प्राचीन आर्यभाषा (संस्कृत) की शब्दावली का

लोक-सुविधा के अनुसार परिवर्तित रूप-विकास होने लगा था। अपभ्रंश में पालि-प्राकृत में तद्भव रूप में विद्यमान शब्दावली का रूप और भी घिस या बदलकर एकदम ऐसा हो गया कि उनके स्रोत की पहचान भी कठिन हो गई। इसीलिए हेमचन्द्र, कृत 'देशी नाममाला' में दी गई देशी (देशज, स्थानीय या आंचलिक) लोकप्रयुक्त शब्दों की विस्तृत तालिका में दी गई देशी (देशज, स्थानीय या आंचलिक) लोकप्रयुक्त शब्दों की विस्तृत तालिका में अनेक ऐसे शब्द भी आ गए हैं जो वास्तव में 'तद्भव' हैं, अर्थात् उनका रूप-विकास प्राचीन आर्यभाषा के शब्दों से हुआ है।

इसके उपरान्त, अपभ्रंश के शब्दकोश में देशी (देशज) शब्दों का दूसरा स्थान है—गड्डी, घंटे, चिक्कार, झुंपड़ा, पेट्ट, रस्सी, कप्पड़ आदि असंख्य उदाहरण इसके प्रमाण हैं। अपभ्रंश की देशज शब्दावली में ध्वन्यात्मक (किसी ध्वनि की आवृत्ति से युक्त) शब्द भी प्रचुर परिमाण में विकसित दिखाई देते हैं, किलकिल, खुणखुण, रणरणंत, पप्पीहो, रुणरुण, हिलहिल आदि।

अपभ्रंश में विदेशी शब्दों का समावेश पहले (आठवीं-दसवीं शताब्दी तक) नगण्य रहा। बाद में क्रमशः अरबी-फारसी के अनेक शब्द अपभ्रंश की निजी भाषायी प्रकृति में ढलकर प्रयुक्त होने लगे—खुस या खुह (खुश), तहसील, दत्थरो (दफ्तर अर्थात् रूमाल) नौबति, सुलतांण, हुद्दादार आदि।

अपभ्रंश का अनुप्रयुक्त स्वरूप

अपभ्रंश के साहित्यगत अनुप्रयोग के स्फुट उदाहरण यद्यपि संस्कृत युग से ही मिलने लगते हैं तथापि इस देशभाषा या लोकभाषा के स्वतन्त्र-स्वायत्त साहित्यिक अनुप्रयोग का समय प्रायः आठवीं से ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक व्याप्त है। इस अवधि में बौद्ध सिद्धों, जैन साधुओं एवं नाथपंथियों के अतिरिक्त सम्प्रदाय-रहित विभिन्न कवियों ने भी अपभ्रंश में प्रभूत रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्हीं में से कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम जैन कवि स्वयंभू का नाम उल्लेखनीय है जिनका 'पउमचरिउ' साहित्यिक अपभ्रंश का गौरव-ग्रंथ माना जाता है। उसके कुछ अंश इस प्रकरण में उद्धृत हैं—

1. **साम्मण मास छुड्ड सावडउ। छुड्ड आगम जुति का वि घडउ।**
   छुड्ड होंतु सुहासिय-वयणाइं। गामिल्ल भास परिहरणइं।

(स्वयंभू, पउमचरिउ 13.10.11)

कवि स्वयंभू ने यहाँ बड़े गर्वीले स्वर में, 'सामान्य' (साम्मण) एवं 'ग्राम्य'

(गामिल्ल) भाषा में काव्य रचना करने की बात स्वीकार की है। यह 'सामान्य' अथवा 'ग्राम्य' भाषा ही काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा 'अपभ्रंश' (अपभ्रष्ट) कहलायी। उपर्युक्त उदाहरण में अपभ्रंश की 'सरलीकरण' की प्रवृत्ति (सामान्य>साम्मण) के अतिरिक्त उकार-बहुलता (छुडु, सावडउ, धडु, होंतु) तो स्पष्ट है ही; प>स (भाषा>भास), मध्यवर्ती महाप्राण>ह (सुभाषित>सुहासिय) और न>ण आदि ध्वनि संबंधी प्रवृत्तियाँ भी प्रत्यक्ष हैं। ग्राम>गाम+इल्ल (देशी प्रत्यय : पूर्वी हिन्दी–देश>देसिल्ल (विद्यापति) जैसे अनुप्रयोग कवि को लोकोन्मुखता के परिचायक हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान कवि जिनदत्त सूरि के अपभ्रंश–अनुप्रयोग की एक बानगी देखिए–

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी। सा लग्गइ सावयइ वियारी।

(समकालीन श्रावकों (जैन साधुओं) में पतनोन्मुखी प्रवृत्ति देखकर आचार्य प्रवर ने व्यंग्य किया है–'जो दारा यौवन-वश नाचती है वह आजकल के श्रावक को प्यारी लगती है।)

इस एक-ही लघु छंद (पद्धरि या पद्धड़िया) में अपभ्रंश की कई भाषिक एवं व्याकरणिक प्रवृत्तियाँ झलक रही हैं–जोब्बनत्थ<यौवनार्थ : य>ज, व>ब, अनायास द्वित्व–ब्ब, अन्तःस्थ ध्वनि र् का महाप्राण थ से संयोग होने पर उसी के अल्पप्राण, त् के रूप में परिवर्तन, या>जा (स्त्रीवाची, सम्बन्धवाचक सर्वनाम), नच्चइ<नृत्यति–ऋ>अ, त्य>च्च, ति>इ (तिङत>कृदंत), लग्गइ (देशज 'लगती है' का संस्कृत-अनुकरण लगति>लग्गइ) अकारण द्वित्व एवं तिङत>कृदंत, श्रावकं>सावयइ–श्र>स एवं संयुक्त ध्वनि का सरलीकरण भी, क>य+'इ' परसर्ग (कर्मकारक : द्वितीया के अर्थ में), प्रिया-पिया, प्र>प (सरलीकरण), पुनः प>व (जैसे अपभ्रष्ट>अवहट्ट), पुनः व्यंजन-विपर्य-प्रिया>पियारि-वियारी।

उत्तरवर्ती मध्यकालीन आर्यभाषा (अपभ्रंश-अवहट्ठ) के मुक्तककारों में ग्यारहवीं शताब्दी के **मुनि रामसिंह** का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनके अनेक दोहे आचार्य हेमचंद्र एवं प्राकृत पैंगलम् के संकलनकर्त्ता के अलावा अन्य रचनाकारों द्वारा भी अपभ्रंश के उदाहरणों में उद्धृत किए गए हैं। इतना ही नहीं, पुरानी हिन्दी एवं खड़ी बोली का पूर्वाभास कराने के लिए इनके दोहे प्रस्तुत किए जाते हैं।

आचार्य हेमचंद्र 'अपभ्रंश के पाणिनि' माने जाते हैं। इनकी रचनाएँ ('शब्दानुशासन' एवं 'देशी नाममाला' आदि) अपभ्रंश के अनुप्रयुक्त स्वरूप का सन्दर्भ-कोश हैं। पीछे अपभ्रंश-सम्बन्धी विवेचन में तथा अन्यत्र अनेक सन्दर्भों में **आचार्य हेमचंद** के अनेक उदाहरण उद्धृत हैं। यहाँ यह दोहा दिया जा रहा है–

1. **दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि।**
जं अच्छइ तं माणिअ इं होसइ करतु म अच्छि।

[दिन झटपट व्यतीत हो जाते हैं, मनोरथ पीछे रह जाते हैं। जो होना है वह होगा ही—ऐसा मानकर सोचता मत रह!]

इस उदाहरण में दिनाः>दिअहा, ममोरथा>मणोरह आदि अनुप्रयोग अपभ्रंश की निजी पहचान लिए हुए हैं। यांति>जांति (व्यतीत होते हैं, बीत जाते हैं) और करतु>करोतु जैसे प्रयोग तिङंत क्रिया-रूपों के अवशेष हैं तो अच्छइ, पडहि जैसे प्रयोग कृदंत-रूपों के द्योतक हैं। 'झडप्पडहि' विशिष्ट देशज प्रयोग है जो आज मानक हिन्दी में 'झटपट' के रूप में बहुप्रयुक्त है।

पुरानी हिन्दी

नामकरण एवं सन्दर्भ सूत्र

मध्ययुगीन आर्यभाषाओं (पालि-प्राकृत) की अन्तिम अवस्था जैसे 'अपभ्रंश' और 'अवहट्ठ' है उसी प्रकार आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी (जिसकी झलक प्रायः चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी से मैथिली, अवधी, ग्वालियरी, राजस्थानी (डिंगल) आदि में मिलने लगती है) की आरम्भिक अवस्था 'पुरानी हिन्दी' अथवा 'प्रारम्भिक हिन्दी' है। इस सम्बन्ध में, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने विशद अध्ययन के उपरान्त, कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं वास्तव में, परवर्ती मध्यकालीन आर्यभाषा अपभ्रंश-अवहट्ठ तथा आधुनिक आर्यभाषाओं मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि के मध्यवर्ती सौ-दो-सौ वर्षों के दौरान सिद्धों, नाथपंथियों, चारणों, संतों, भक्तों और अन्य विभिन्न लोक-कवियों की वाणी में मिलने वाले भाषा-रूप को सर्वप्रथम (1902-1903 ई. में) 'पुरानी हिन्दी' का नाम गुलेरी जी ने ही दिया था। उन दिनों छपने वाले 'समालोचक' नामक पत्र में उन्होंने इसी शीर्षक (पुरानी हिन्दी) के अन्तर्गत एक लेखमाला शुरू की थी जो कई किश्तों में प्रकाशित हुई। (आजकल वही रचना 'पुरानी हिन्दी' के नाम से अलग पुस्तकाकार-रूप में उपलब्ध है।) इसमें उन्होंने ग्यारहवीं-बारहवीं-शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के अनेक प्राचीन छन्द उद्धृत करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि उन रचनाओं की भाषा वास्तव में हिन्दी का ही पूर्वरूप है।

इस संदर्भ में गुलेरी जी का अभिमत उल्लेखनीय है—''विक्रमी संवत् की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह 'पुरानी हिन्दी' में परिणत हो गई। इसमें देशी शब्दों की प्रधानता है...विभक्तियाँ घिस गई

हैं, घिर गई हैं...एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगता है...कई अव्यय या पद लुप्तविभक्ति पद के आगे रखे जाने लगे...क्रियापदों में भी मार्जन हुआ।'' गुलेरी जी ने अपने इस आकलन की यथार्थता प्रमाणित करने के लिए जो अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनमें से अधिकांश हेमचन्द्र रचित 'शब्दानुशासन' के प्राकृत-अपभ्रंश संबंधी आठवें अध्याय तथा किसी अज्ञातनामा विद्वान द्वारा संकलित परवर्ती संग्रह 'प्राकृत पैंगलम्' से लिए गए हैं। किन्तु जैसा कि अपभ्रंश-अवहट्ठ संबंधी पूर्वविवेचित सामग्री के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है, हेमचन्द्र या उनके ग्रंथों में संकलित पद्यों के रचनाकारों तथा उनके (हेमचन्द्र के) निकट-परवर्ती 'अद्दहमाण' (अब्दुलरहमाण), विद्यापति आदि प्रायः सभी कवियों ने अपनी समकालीन 'देशी' भाषा को 'अपभ्रंश' अथवा 'अवहट्ठ' कहा है। 'अवहंस' भी 'अपभ्रंश' का ही विकसित नाम-रूप है। इस दृष्टि से, गुलेरी जी द्वारा कथित ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की विभिन्न रचनाओं की भाषा को एकदम 'हिन्दी' का 'पूर्वरूप' अथवा 'पुरानी हिन्दी' (प्रारम्भिक हिन्दी) कहना पूर्णतया संगत प्रतीत नहीं होता। हाँ, इन (अपभ्रंश-अवहट्ठ की) रचनाओं में प्राप्त विविध उदाहरणों में उसी प्रकार हिन्दीपन का आभास होता है जिस प्रकार पालि-प्राकृत की विभिन्न रचनाओं में अपभ्रंश की पूर्व झलक दिखायी देती हैं।

संभवतः इसीलिए पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने यह मन्तव्य प्रस्तुत किया है कि 'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली (अर्थात् अवहट्ठ) '' 'पुरानी हिन्दी' से...अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और 'पुरानी हिन्दी' कहाँ आरम्भ होती है। इसका निर्णय करना कठिन है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिन्दी भी।''

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के इस अभिमत की पुष्टि आगे (प्रारम्भिक हिन्दी के अनुप्रयुक्त स्वरूप के अन्तर्गत) दिये गये विभिन्न उदाहरणों से हो जाती है। गुलेरी जी ने इस 'संक्रांतिकालीन' अथवा 'संधा'-भाषा को पूर्ववर्ती अपभ्रंश-अवहट्ठ तथा परवर्ती अवधी-ब्रज-राजस्थानी एवं अन्य विकासमान देशी भाषाओं से अलगाने के लिए ही इसे 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया। वे स्वयं कहते हैं—''ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द जानबूझकर काम में लिया गया है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के प्रथम और द्वितीय प्रकरण में, वीरगाथाकाल के विवेचन से पूर्व इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने अपभ्रंश-काल और वीरगाथाकाल की मध्यवर्ती भाषा को 'प्रकृताभास

हिन्दी' अथवा 'देशभाषा' की संज्ञा दी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में, अपभ्रंश के पाणिनि माने जाने वाले आचार्य हेमचन्द्र भी 'देशीनाममाला' नामक शब्दकोश में इसी तथ्य को विभिन्न उदाहरणों के माध्यम-स्पष्ट कर चुके थे। इधर ग्वालियर के सभा-रत्न, संगीताचार्य एवं देशभाषा-कवि विष्णुदास (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी) की रचनाओं के आधार पर पं. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस दौर की भाषा को 'उदीयमान हिन्दी' की संज्ञा दी है। (ग्वालियरी भाषा : पृ.11) उनका तात्पर्य भी यही है कि उस युग में 'हिन्दीपन' उदय होकर निखरने लगा था।

इस संबंध में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत भी उल्लेखनीय है—"दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश के वढ़ाव (विकास) को कुछ लोग 'उत्तरकालीन अपभ्रंश' कहते हैं और कुछ लोग 'पुरानी हिन्दी'। बारहवीं शती तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही 'पुरानी हिन्दी' के रूप में चलती थी।"

वास्तव में, ग्यारहवीं-बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का समय मध्यकालीन और आधुनिक आर्यभाषाओं का संक्रमण-काल था जिसमें नवीन भाषिक प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। इसीलिए इस युग की भाषा को अधिकांश विद्वानों ने 'संक्रांतिकालीन भाषा' कहा है। यह भाषा परवर्ती (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी की) साहित्यिक भाषा (डिंगल-पिंगल—राजस्थानी-अवधी-ब्रज आदि) के बीज रूप प्रारम्भिक लक्षण संजोये हुए है। **इसे न तो पूर्णतया अपभ्रंश-अवहट्ठ कहा जा सकता है और न ही पूरी तरह से 'हिन्दी' माना जा सकता है। इसीलिए इसे 'पुरानी हिन्दी' कहना उपयुक्त ही है।**

'पुरानी हिन्दी' की प्रमुख भाषिक प्रवृत्तियाँ

विगत पृष्ठों में 'पुरानी हिन्दी' की बानगी दिखाने के लिए जो उदाहरण दिए गए हैं, उनसे स्पष्ट है कि 'अपभ्रंश' और 'अवहट्ठ' की अधिकांश भाषिक प्रवृत्तियाँ अथवा विशेषताएँ 'पुरानी हिन्दी' में दृष्टिगोचर होती हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि 'पुरानी हिन्दी' नाम से कथित भाषा वास्तव में पूर्ववर्ती अपभ्रंश-अवहट्ठ का ही विकासमान रूप है। 'पुरानी हिन्दी' में भी अपभ्रंश-अवहट्ठ' के समान उ-कार बहुलता, आयोग्यात्मकता (विश्लिष्टिता), सानुनासिकता, संयुक्त ध्वनियों का द्वित्वीकरण-समीकरण-सरलीकरण, देशी शब्दों की प्रचुरता आदि **सामान्य प्रवृत्तियाँ** विद्यमान हैं।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओं के अन्तर्गत ऋ>रि, अ>इ, अ>उ, अ>ए, न>ण, य>ज, श> ष>स/ख/ह, स्पर्श व्यंजन वर्गों के पहले-तीसरे वर्णों (क-ग, च-ज, त-द, प आदि) के मध्यवर्ती होने पर इनका लोप ('ब' अपवाद है मध्यवर्ती होने पर भी इसका लोप प्रायः नहीं होता।) मध्यवर्ती महाप्राण (ख-घ, छ-झ, ठ-ढ, फ-भ) का प्रायः 'ह, द्य>ज्ज, य>इ श्रुति, व>उ श्रुति आदि 'अपभ्रंश' में प्राप्त प्रवृत्तियाँ 'पुरानी हिन्दी' में भी देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार 'अवहट्ठ' में विकसित ध्वनि-प्रवृत्तियाँ स्वर-विपयर्य (अ>उ, इ>उ, उ>अ, अ>ए, औ>उ) ऐ>अइ (उच्चारण), औ>अउ (उच्चारण) स्वर संकोचन (एक से अधिक स्वर साथ होने पर, केवल एक स्वर रह जाना), आद्य अक्षर के स्वर का दीर्घीकरण, क्षतिपूरक दीर्घीकरण, कहीं-कहीं स्त्रीवाचक पदों के अन्तिम 'आ' का ह्रस्वीकरण, संयुक्त (संधि) स्वरों (ए, ऐ, ओ, औ) का प्रायः संधि रहित सरल या विरल उच्चारण (चैत>चइत, ओषध>अउखद), पदांत अनुस्वार का प्रायः लोप, साथ ही कहीं-कहीं अकारण अनुनासिकता का आगम (पक्षी>पंखी, पंछी), व्यंजनों में 'ट-वर्ग' के अन्तर्गत ड़ ढ़ ध्वनियों का आगम आदि के उदाहरण भी 'पुरानी हिन्दी' में पर्याप्त हैं।

रूप-रचना सम्बन्धी विशेषताओं के अन्तर्गत अपभ्रंश-अवहट्ठ की भाँति 'पुरानी हिन्दी' में भी 'द्विवचन' और 'नपुंसकलिंग' का अभाव हैं कारकीय रूपों में न्यूनता एवं पूर्वकालिक क्रियारूपों तथा संयुक्त क्रियापदों के विकास आदि की विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसी प्रकार अधिकांश संज्ञा पदों का अकारांत रूप (जगत्>जग, सुधि>सुध, भ्राता>भ्रात), कहीं कहीं बहुवचन सम्बन्धी परसर्ग 'न्ह' का योग; कहीं-कहीं पुल्लिंग-स्त्रीलिंग पदों के समान रूप, कई कारकों में विभक्तिरहित प्रयोग, कुछेक स्थितियों में 'एं' (जलें) आदि में संश्लिष्ट विभक्ति, 'हिं' और 'हि' परसर्ग का प्रयोग-बाहुल्य, ने कु, कउ, सउ, सउं, लागिय, क केरा, केरी मांहि आदि कारकीय परसर्गों का विकास आदि के अतिरिक्त अधिकांश सार्वनामिक रूप यथावत दिखायी देते हैं। संज्ञार्थ क्रियाओं (अथवा क्रियार्थ संज्ञाओं) के पढण-पढणु आदि रूप भी 'पुरानी हिन्दी' में 'अवहट्ठ' के अनुसार हैं।

अपभ्रंश-अवहट्ठ में प्रयुक्त या विकसित अधिकांश तद्भव देशज और विदेशी शब्द 'पुरानी हिन्दी' को विरासत में प्राप्त हैं।

'पुरानी हिन्दी' में विकसित कुछ अन्य भाषिक प्रवृत्तियों की संक्षिप्त रूपरेखा आगे उदाहरण-सहित प्रस्तुत की जा रही है।

स्वर

(1) ऋ>अ, आ-नृत्य>नच, कृष्ण>काण्ह।

(2) ऋ>इ–सृष्टि>सिट्ठि, हृदय>हिय (मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन द का लोप)
(3) ऋ>उ–पृच्छ>पुच्छ (>पूछ)
(4) ऋ>अर्–मृ>मर-मृतः>मरा, (मध्यवर्ती अल्पप्राण त लुप्त)
(5) ऋ>रि–ऋतु>रितु, ऋक्ष>रिच्छ, ऋद्धि>रिद्धि।
(6) आद्य (सबसे पहले अक्षर के) दीर्घ स्वर का कहीं-कहीं अल्पप्राण–दावाग्नि>दवागि (अन्तिम संयुक्त ध्वनि >सरल, ग्न>ग)।
(7) आद्य अक्षर के ह्रस्व स्वर का कहीं-कहीं दीर्घीकरण–चित्त>चीत, मित्र>मीत, पुत्र>पूत (अंतिम संयुक्त>सरल, त्र>त्त, त्त>त), शुंड>सूंड (श>स)।
(8) सानुनासिकता–वक्र>बंक (व-ब), नग्न-नंग (ग्न>ग), छाया>छाँह।

व्यंजन

(1) आद्य हलंत स् प्रायः लुप्त स्नेह>नेह, स्तन>थण, स्थिर>थिर, स्पर्श>परस, स्कंध>कंध।
(2) कहीं-कहीं आद्य संयुक्त व्यंजन>सरल–स्वप्न>सपन, भ्रमर>भंवर (म>अनु. + व), श्मशान>मशान>मसाण (श>स, न>ण)।
(3) कहीं-कहीं मध्य और अंत्य संयुक्त व्यंजन भी सरल–मुद्गर>मुग्गर> मुगर, निष्ठुर>निठुर, निर्झर>निझर, सहस्र>सहस, नित्य>नित।
(4) त्य>च–सत्य>सच, नृत्य>नच।
(5) ध्य>झ–मध्य>मझ, बुध्यते>बुज्झइ (बूझइ)।
(6) त्स>छ–वत्स>वछ, मत्स्य>मछ (+ली), अंत्य य लुप्त।
(7) द्य>ज–विद्युत्>बिज्जु(अन्त्य त् लुप्त), आद्य अक्षर का ह्रस्वरूप दीर्घ, ज् की क्षति–बीजु (+ ली)।
(8) म्र>म्ब–आम्र>अम्ब, (आरम्भिक स्वर ह्रस्व)।
(9) आद्य द>ड–दोला>डोला, दंडः>डंडा।
(10) स्पृष्ट (क से म तक) व्यंजनों के वर्गों के पांचवें (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) के स्थान पर अनुस्वार (ं) शाङर्ग>सारंग (श>स हलंत, र्>र) शंङ्ख>संख, कञ्ज>कंज, दण्डः>डंडा, शुण्ड>सूंड (श>स एवं आद्य अक्षर के ह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण), आनन्द>आनंदु (उकारान्तता), सम्मति>संमति, अम्ब>अंब, चम्पा>चंपा।
(11) मध्यवर्ती ड़>ल, र–तड़ाग>तलाअ (अंतिम ग>अ), दाडिम>दारिम (अनार)।
(12) मध्यवर्ती महाप्राण (चवर्ग-टवर्ग को छोड़कर) ध्वनियों ख-घ, थ-ध भ>ह–मुख>मुह,

रेख>रेह, मेघ>मेह, दीर्घ>दीह (मध्यवर्ती र् का लोप), कथा>कहा, तिथिवार>तिहिवार (त्यौहार), कथन>कहण (न>ण), वधिरः>बहिरो, वधू>बहू (व>ब), गर्दभः>गदहा (मध्यवर्ती र् का लोप्र, : >ा)

(13) कभी-कभी अल्पप्राण व्यंजन के साथ ह होने पर उसी का महाप्राण उच्चारण दुहिता>धीआ (द-ह>ध, ह लोप, अंत्य त > अ)।

(14) कहीं-कहीं मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन का उ स्वर में परिवर्तन—चतुर्थी>चउथी, चतुर्दश>चउदह (मध्यवर्ती त का लोप संख्यावाची अंत्य स>ह)।

(15) संख्यावाची शब्दों के अन्तिम श की जगह प्रायः ह उच्चरित—दश>दह (दशमुख>दहमुह), एकादश>एआरह (क>अ), द्वादश>बारह (द्व>व सरलीकरण, व>ब), चतुर्दश>चउदह।

(16) संख्यावाची शब्दों के मध्यवर्ती द का प्रायः र—द्वादश>बारह, त्रयोदश>तेरह।

(17) कहीं-कहीं मध्यवर्ती अंतस्थ व्यंजनों (य-र-ल) का लोप—मयूर>मऊर (म+ ऊ—मोर), गर्दभः>गदहा (र्, लुप्त), निर्झर, निझर।

(18) उपर्युक्त प्रवृत्ति के अपवाद के रूप में मध्यवर्ती व का उ उच्चारण—अवसर> अउसर, पवन>पउण (न>ण)।

(19) पुरानी हिन्दी में व के स्थान पर ब उच्चारण की अपभ्रंशीय प्रवृत्ति के अतिरिक्त मूल व रूप में भी उच्चारण मिलता है—वानर-बानर, वन-बन।

(20) इसी प्रकार न के स्थान पर ण उच्चारण की अपभ्रंशीय प्रवृत्ति के अतिरिक्त मूल न का उच्चारण भी—मन-माण, धन-धण।

(21) म के स्थान पर पूर्ववर्ती अनुस्वार (ं) सहित व का उच्चारण—कमल>कंवल, भ्रमर>भंवर (मध्यवर्ती र का लोप, चामर>चांवर, चंवर)।

(22) कहीं-कहीं संयुक्त व्यंजनों की दोनों ध्वनियों का पूर्ण (स्वर सहित) उच्चारण (संयुक्त व्यंजन में जो ध्वनि हलंत होती है, वह भी स्वर-सहित पूर्ण उच्चरित होने लगती है)—भ्रम>भरम, कर्म>करम, प्रकट>परगट (मध्यवर्ती क>ग) प्रकाश>परकास (परगास), क्रिया>किरिआ, यत्न>जतन, रत्न>रतन

(23) क्ष>ख, छ—क्षमा>खिमा, छिमा, क्षत्रिय>छत्रिय, खत्रिअ (खत्री) पक्ष>पख, पच्छ, भिक्षा>भिच्छा, भिक्षार्थी>भिखारी, वृक्ष>बृच्छ, रुख।

(24) क्षतिपूरक दीर्घीकरण (पद में किसी ध्वनि का लोप और उसकी कमी पूरी करने के लिए किसी अन्य ध्वनि का आगम या ह्रस्व स्वर (मात्रा) का दीर्घीकरण—वक्र>बांक, (व>ब, क्र के र की क्षति, पूर्ववर्ती अ > आ), वर्तिका>बाती (र की क्षति, व>ब, 'क' लुप्त—वर्तिका>बत्तिआ>बाती।)

(25) अपभ्रंश-अवहट्ठ से प्राप्त ड़, ढ़ ध्वनियों का प्रचुर प्रयोग–

(क) उर भीतर खड़हड़िउ...(पुरातन प्रबंध संग्रह, 1193 ई.)

(ख) छाड़ि न जाइ इह...(वही)

(ग) रे रे वाहहिं काण्ह छोड़ि.....(प्राकृत पैंगलम्)

(घ) काढ़ि किरपाण....(रासो)

(ङ) उड़ चलहि (रासो)

(च) अघड़ घड़िया तहां अपिउ पीआ (जयदेव)

रूप-रचना की दृष्टि से भी पुरानी हिन्दी अधिकांशतः अपनी पूर्ववर्ती अपभ्रश-अवहट्ठ की प्रवृत्तियों को संजोये हुए हैं, किन्तु कई दशाओं में अन्य नई प्रवृत्तियां भी पुरानी हिन्दी में विकसित होती दिखाई देती है। कतिपय उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

(1) संज्ञा-पदों के बहुवचनीय रूप बनाने के लिए अन्त में, 'न' या 'न्ह' जुड़ने की प्रवृत्ति–बालकन्ह, पंडितन्ह, लरिकन, सूरन (शूरवीरों) आदि।

(2) स्त्रीवाची रूप–रचना के लिए कहीं-कहीं 'ई' प्रत्यय का योग–बाला>बालि, बाली, पत्रा>पत्री, पाती, विद्युत्>बीजुरी, मत्स्य>मछरी।

(3) कहीं-कहीं विशेषण पद विशेष्य (संज्ञा) के लिंग-वचन अनुसार भिन्न रूप-रचना द्वारा पहचाने जाते हैं–पीतवसन>पीरो बसन, **पीरी** बिजुरिया, बड़-बड़ि, उच्च>**उंच, ऊंचो, ऊंचि, ऊंची, ऊंचे। आंखि, नारि, धणि** इत्यादि।

(4) सर्वनाम सम्बन्धी रूप-रचना में अपभ्रंश-अवहट्ठ रूपों के साथ-साथ कुछ नंगे रूप भी विकसित प्रतीत होते हैं जो बाद में अवधी एवं ब्रज में प्रचलित हुए।

	एकवचन	**बहुवचन**
उत्तम पुरुष	हौ, हौं, मइ, मइं	म्हे, हम्ह, हम
मध्यम पुरुष	तुहं, तुह, तुहुं, तूं	तुम्ह, तुम
अन्य पुरुष	सो, सोइ, सेइ वो, ता (उस)	ते, वै
संकेत (निश्चय वाचक)	एह, इह, ए	इन्ह, इन्हन
	ओ, ओह, ऊ	तिन, तिन्ह, तिन्हन
अनिश्चयवाचक–	कोउ, कोवि, केहि	कोउन किन्हन
प्रश्नवाचक–	को, कवन, कउण	किन, किन्हन
संवंधवाचक–	जि, जे, जेहि. जोइ	जिण, जिन्हन
	से, सउ, सेइ, सोउ	तिण, तिन, तिन्हन

कारकीय रूप-रचना के अंतर्गत सर्वाधिक उल्लेखनीय और बहुप्रयुक्त प्रवृत्ति

है 'हि' अथवा 'हिं' परसर्ग का विभिन्न कारक-विभक्तियों (कर्म-संप्रदान-अधिकरण आदि) के रूप में प्रचलन-ज्णहिं, ओहि, वाहि, तोहि, ताहि, तुमहिं, उनहिं, जलहिं, बणहिं, घरहि इत्यादि।

पुरानी हिन्दी में प्राप्त विभिन्न कारकीय रूपों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है–

कर्ता–नै, ने

कर्म–कहं, कहु, कौ, को, हि, हिं, हें

(क) तोहें भजन कौन बेला (विद्यापति)

(ख) मोहि व्रजपति आयसु करौ (रासो)

करण–सूं, सों सौं सउ, (कहीं-कहीं 'एं' सश्लिष्ट विभक्ति भी)

(क) जे जण रतल जाहि **सों** (विद्यापति)

(ख) रामचरित सब रिषि **सों** कह्यो। (विष्णुदास रामायण कथा)

(ग) कहिं कवि दास हियें धरि चाउ। (विष्णुदास, महाभारत कथा, आदि पर्व)

सम्प्रदान–लागि, लग्गि, तइद, ताई, तण

(क) तोरा लागि अनुखन विकल मुरारि (विद्यापति)

(ख) सुरति लग्गि...रासो

अपादान–सूं, सउ, पहं

(क) वचन जो जहां नाथ सउं लहौं (विष्णुदास, रामायण कथा)

(ख) सुमनतरि कविचंद सउं (रासो)

सम्बन्ध–क, कौ, केर, उत्तम, मध्यम पुरुष सर्वनामों में 'आर', और 'रो' परसर्ग भी–

(क) मदन क भाव पहल परचार। (विद्यापति पदावली)

(ख) ता सुत विस्नुदास **कौ** दास। (विष्णुदास, रामायण कथा)

(ग) कत दिन **मोर** पूछत बात। तजलनि हमरो सनेह रे। (विद्यापति पदावली)

अधिकरण–माझ, महि, माहिं

(क) **माझ** खानि लीनी निभाई। (विद्यापति पदावली)

(ख) राज **मज्झि** संभयउ...(रासो)

'पुरानी हिन्दी' में **क्रिया-पदों की रूप-रचना** सम्बन्धी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं–

(क) संज्ञार्थ क्रियाओं (अथवा क्रियार्थ संज्ञाओं) के अंत में ण, णु परसर्ग...चलण-चलणु, पढणु कहण, सुनण।

(ख) तिङन्त क्रिया-रूपों की बजाय कृदन्त क्रिया-रूपों की अधकता-चलइ चलिहै, चलहु, चलउं, चलउ इत्यादि।

(ग) पूर्वकालिक क्रियाओं के लिए प्रायः+'इ' परसर्ग चलि, पढ़ि, उठि, सुणि, कर जोरि, बोलि इत्यादि।

(घ) संयुक्त क्रिया-रूपों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति—धरि राख्यौ, लेहि बइठो, हुइ जाइ, उड़ि चलइ इत्यादि।

(ङ) 'पुरानी हिन्दी' के अन्तर्गत विभिन्न अव्यय पदों (अविकारी शब्दों)—क्रिया-विशेषण, समुच्चयबोधक, द्योतक आदि का विकास प्रायः ध्वनि-रचना सम्बन्धी प्रवृत्तियों पर आधारित है। कुत्र (कहाँ)>कत, कित, यत्र>जित, यत् (कि)>जित-यत् (कि)>जि, जे, जउ, तत्र>तत, तित विना>बिनु, यदा>जउ, अद्य>अज्ज, अज्जु, आजु, अद्यापि>अजहूं, कदापि>कबहुँ, अपि>अबिहूं—अब हूं इत्यादि।

'पुरानी हिन्दी' की **शब्दकोशीय प्रवृत्तियों** के अन्तर्गत यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश-अवहट्ठ से प्राप्त तद्भव शब्दों के अतिरिक्त इसमें देशी भाषाओं के असंख्य शब्दों का समावेश होने लगा। यह समय (12 13 14 वीं शताब्दी) विभिन्न देशी भाषाओं के विकास का समय है, अतः अनेकानेक स्थानीय शब्द पुरानी हिन्दी के विभिन्न रूपों में प्रवेश पाने लगे। हेमचंद्र द्वारा 'देशी नाम माला' के नाम से अलग कोश तैयार किया जाना इसका प्रमाण है। ओबड़ी (हड़बड़ी), कढ्ढउ, हुहुर, रत्त्डी, बत्त्डी, कन्नुलड़ा, नवुल्लड़अ, कसवट्ट, हियउल्ल, घल्लइ, बप्पीहा, घुड्डक्कइ, बत्तियाँ, गोरड़ी, घुट्टु (घूँट), चुल्लुएण, छि, चढक्क आदि उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

पुरानी हिन्दी का अनप्रयुक्त स्वरूप

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक रचना-युग (लगभग आठवीं शताब्दी) से लेकर पूर्व मध्ययुग के पूर्वार्द्ध (तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी) तक रचे गए असंख्य ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा परवर्ती हिन्दी (अवधी, ब्रज, राजस्थानी, हरियाणी (वागरू) खड़ी बोली (कौरवी) आदि) का ही पूर्वाभास लिए हुए है।

प्राकृत-अपभ्रंश के विभिन्न काव्यशास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय ग्रंथों के अतिरिक्त अनेकानेक कथाकाव्यों, चरितकाव्यों, भक्तिकाव्यों, वीरकाव्यों, गीतिकाव्यों, नीतिकाव्यों, धार्मिक-आध्यात्मिक काव्यों तथा मुक्तक-संग्रहों में भाषा (भाखा) या हिन्दुई/हिन्दवी के नाम से ज्ञात हिन्दी का पूर्वरूप स्पष्ट झलकता प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रारम्भिक (पुरानी) हिन्दी के अनुप्रयुक्त स्वरूप का विशाल भंडार आज मुद्रित रूप में उपलब्ध है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विभिन्न इतिहास ग्रन्थों और शोधग्रन्थों में ऐसे असंख्य उदाहरण संकलित हैं जिन्हें प्रारम्भिक हिन्दी की थाती माना जा सकता है। यहाँ उस समस्त सामग्री का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के लिए

शत-सहस्र पृष्ठ भी कम होंगे। हाँ, हिन्दी भाषा की विकास-यात्रा के विभिन्न पड़ावों की एक विहंगम बानगी भर देखने के उद्देश्य से कुछ-एक उदाहरणों द्वारा प्रारम्भिक (पुरानी) हिन्दी के अनुप्रयुक्त स्वरूप के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

1. **बरि विपरो जहु जलु पियइ, घुट्टुग्घुट्टु चुल्लुएण।**
सायरि अत्थि बहुय जल, छि खारउ किं तेण॥

(राजशेखर)

(चुल्लू से घुंट-घूंट जल पीना श्रेष्ठ है। उस अपार जनराशि सागर से क्या जिसका पानी खारा है।)

यहाँ वर>बरि (श्रेष्ठ), सागर>सायरि, अस्ति>अत्थि (है), क्षार>खारउ (खार) आदि प्रयोग अपभ्रंश के होते हुए भी हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं है। 'घुट्ट' (घूंट) और 'चुल्लू' शब्द भी हिन्दी-भाषी लोक-समुदाय से अज्ञात नहीं हैं।

गुरु गोरखनाथ कि निम्नलिखित पंक्तियाँ स्वच्छ हिन्दी का पूर्वाभास देती हैं–

सबद हि ताला सबद हि कूंची, सबद हि सबद जगाया।
सबद हि सबद सूं परचा हूआ, सबद हि सबद समाया॥

इससे यह अनुमान असंगत नहीं कि अपभ्रंश-अवहट्ठ के समानान्तर ही लोक-व्यवहार में 'पुरानी हिन्दी' अथवा 'ठेठ हिन्दी' का प्रचलन था। अपभ्रंश-अवहट्ठ का भूतकाकलिक 'इआ' प्रत्यय (जगाइआ) हिन्दी में 'या' (जगाया) का रूप लेने लगा था। इसी प्रकार 'सूं' (करणकारकीय परसर्ग) परवर्ती 'ब्रज' और 'दक्खिनी' हिन्दी का एक सामान्य प्रयोग बन गया।

हिन्दी भाषा, विशेषतया खड़ी बोली के आरम्भिक उदाहरणों के सन्दर्भ में प्रायः इतिहास-ग्रन्थों में निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जाता है–

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणी म्हारा कंतु।
लज्जेजु तु वियंसिअहु जेइ भग्गा घर एंतु।

(हे बहन, भला हुआ जो मेरा प्रिय (कांत) (युद्ध में) मारा गया। यदि भागा हुआ (पीठ दिखाकर) घर आ जाता तो लज्जा के कारण वैसे ही मर गया होता अर्थात् उसका जीना सम्भव न होता।)

इस दोहे को अधिकांश विद्वानों ने 'प्राकृत पैंगलम्' (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी) से उद्धृत किया है, किन्तु वास्तव में इसकी रचना ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में मुनि

रामसिंह द्वारा हुई जिनकी कृति 'पाहुड़ दोहा' (अर्थात् 'उपहार दोहा') में यह संकलित है। वहीं से, **आचार्य हेमचन्द्र** (बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी) ने इसे अपने 'शब्दानुशासन' के आठवें अध्याय के अन्तर्गत प्राकृत सम्बन्धी-प्रकरण में क्रम संख्या 814, 30 पर उद्धृत किया है।

चारण कवि **जगनिक** के प्रसिद्ध आख्यानगीति 'आल्हखण्ड' में भी अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी की झिलमिल बानगी मिलती है–

किला कंजर को मांगत है
वैठत जामें ग्वालियर वन्यार

इसी प्रकार **वीसलदेव रासो** (बारहवीं शताब्दी) की भाषा अपभ्रंश-अवहट्ठ से 'पुरानी हिन्दी' की ओर अग्रसरित है–

पूरब देसनउ कवनउ लोग
पान फूलात णाउ णव लहह भोग।

यहाँ, देशाणि>देसनउ, कोअपि>कवनउ आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

इससे पूर्व, जैन **आचार्य देवसेन** (दसवीं श.) ने 'सावय धम्म दोहा' (श्रावकधर्म दोहा नामक) संकलन में समकालीन श्रावकों को जैन मत का सार समझाते हुए जिस भाषा का प्रयोग किया था उसमें भी हिन्दी का प्रारम्भिक रूप झलकता है–

जो जिण सासण भासियउ, सो मई कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाइ करि, सो सरि पावइ पारु।

(सावय धम्म दोहा)

[भगवान जिन (महावीर) ने जो उपदेश कहे उन्हीं का सार मैंने यहाँ कहा है। जो (श्रावक) सच्चे भाव से इनका पालन करेगा वह (संसार) सागर से पार उतर जाएगा।]

यहाँ, जो-सो (सम्बन्धवाचक सर्वनाम), मइ (मैं : उत्तमपुरुष सर्वनाम एकवचन) और 'करि' (करके : पूर्वकालिक क्रिया) आदि रूप हिन्दीपन का बोध कराते हैं। सासन<शासन (अनुशासन : उपदेश, प्रवचन, आदेश), श>स, भासियउ>भाषितः (उच्चरित किये) ष>स, कहियउ<कथितम्—मध्यवर्ती महाप्राण थ<ह आदि प्रवृत्तियाँ हिन्दी को अपभ्रंश/अवहट्ठ से प्राप्त है। पालाइ<पालति, पावइ<प्राप्नोति आदि क्रिया-रूप भी मध्यकालीन हिन्दी की प्रकृति का ध्यान दिलाते हैं। सइ>सत्, भाई>भाव

और सारु, पारु आदि प्रयोग भी अपभ्रंश से हिन्दी के विकास-क्रम में बहुधा विद्यमान हैं।

हिन्दी साहित्य को कथ्य और शिल्प की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावित करने वाले जैन चरितकाव्य 'करकंड चरिउ' के रचनाकार **कनकामर** (ग्यारहवीं श. उत्तरार्द्ध) की भाषा में भी ठेठ हिन्दीपन स्पष्ट झलकता है–

एह उच्च कहाणी कहिय तुज्झु। गुणसारणि पुत्तय हियहिं बुज्झु।

(कमकापर, करकंड चरिउ–2–18)

[हे पुत्र! यह गुणों की सार, उच्च कहानी तेरे लिए कही गई हैं। इसे तू हृदय में समझ।]

इनके कुछ ही समय पश्चात् (लगभग 1200 ई. के पश्चात् विद्यमान) कवि जिनदत्त सूरि के पावस-वर्णन की भाषा को भला कौन हिन्दी से पृथक् मान सकता है–

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा बरसंति।
खलहल खलहल खलहल ए बादरा बहंति।
झबझब झबझब झबझब ए बीजुरिय झप्पइ।
थरहर थरहर थरथर ए विरिहणि मणु कप्पइ।

विशेषता यह है कि इस पद्य की अधिकांश पदावली लोकवाणी में प्रयुक्त देशभाषा से गृहीत है। पुरानी हिन्दी का ऐसा ही स्वच्छ एवं लयात्मक अनुप्रयुक्त रूप निम्नलिखित छंद में झलकता है–

जगमग जगमग जगमग ए कानिहि बरकुंडल।
झलमल झलमल झलमल ए आभरणइं मंडल।

कर्णाभूषणों की जगमगाहट के साथ अन्य आभूषणों की झिलमिलाहट का यह बिम्बात्मक चित्रण अनायास परवर्ती विद्यापति और बिहारी जैसे कवियों का उपजीव्य प्रतीत होता है।

मिश्रबंधु सरीखे इतिहासकारों ने जिस शार्ड घर को ब्रज का पहला कवि माना है उनके 'हम्मीर रासो' में परिमार्जित ब्रज की अपेक्षा 'पुरानी हिन्दी' का स्वरूप अधिक झलकता है–

ढोल मारिय ढिल्लि मंह, मुच्छिउ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जला मंतिवर, चलिअ वीर हम्मीर।

चलिअ वीर हम्मीर पआभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार, धूलि सुररह आच्छाइहि।

इसी अनुक्रम में कवि चंद बरदाई-रचित 'पृथ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से एक छंद देखिए—

सिंगार षोडसं करे सुहस्त दर्पनं धरे।
वसन्न वासि वासनं तिलक्क भाल आसनं।
सुमुत्ति नास सोभई दसनं दुत्ति लोभई।
कनक्क नग्ग कंकंनं, जरे जराइ अंकनं।

(पृथ्वीराज रसो, पद्मावली समय)

इस प्रकार, उपर्युक्त विभिन्न उदाहरणों के आलोक में 'पुरानी हिन्दी' के अनुप्रयुक्त स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

भक्ति आन्दोलन और अवधी व ब्रज का विकास

(क) अवधी

नामकरण, उद्भव-स्रोत एवं भाषिक पृष्ठभूमि

भाषा के रूप में 'अवधी' नामकरण 'अवध' क्षेत्र से सम्बन्धित है—यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। उत्तर प्रदेश के लखनऊ-फैजाबाद तथा उसके आसपास का क्षेत्र मध्ययुग से ही 'अवध' नाम से जाना जाता है। वैसे, भौगोलिक इकाई के रूप में 'अवध' नाम बहुत प्राचीन समय से, विभिन्न पौराणिक-सांस्कृतिक ग्रन्थों में 'अयोध्या' के पर्याय-रूप में प्रयुक्त होता रहा है। पुराण-पुरुष राम की जन्मभूमि से सम्बद्ध होने के कारण 'अयोध्या' अथवा 'अवध' नाम भारतीय लोक-मानस के लिए दीर्घकाल से जाना-पहचाना रहा है। मध्ययुग के मुस्लिम शासनकाल में 'अवध' का अस्तित्व एक पृथक् सूबे (प्रदेश या प्रान्त) के रूप में विशेष प्रतिष्ठित हुआ। सन् 1947 ई. से पूर्व, अंगरेज़ी शासनकाल में, पूरा उत्तर प्रदेश 'संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध' नाम से जाना जाता था।

एक प्रकार से, यह नाम (संयुक्त प्रान्त) उत्तर प्रदेश के पश्चिमी (आगरा और आस-पांस) तथा पूर्वी (लखनऊ-फ़ैज़ाबाद और आस-पास) इलाकों का द्योतक रहा। **इसी पूर्वी इलाके 'अवध' की जनभाषा को भाषावैज्ञानिकों ने 'अवधी' की संज्ञा दी है।** इस नामकरण (अवधी) के अठारहवीं शताब्दी तक 'भाषा' के रूप

में कहीं प्रयुक्त होने के प्रमाण नहीं मिलते। अतः इसे (अवधी नामकरण को) सर्वथा आधुनिक नाम माना जा सकता है। इससे पूर्व, हिन्दी के अधिकांश मुस्लिम कवि इसे 'हिन्दुई' 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' नाम से सम्बोधित करते रहे और सन्त-भक्त आदि कवि प्रायः 'भाषा' या 'भाखा' नाम के अन्तर्गत इसका निर्देश करते रहे।

मध्ययुग में, पहले जनभाषा और फिर 'साहित्यिक' भाषा के रूप में विकसित होने वाली 'अवधी' के मूल उत्स अथवा उद्भव-स्रोत के सम्बन्ध में भाषावैज्ञानिकों का कोई एक निश्चित मत नहीं। पूर्ववर्ती मध्यकालीन आर्यभाषा 'पालि-प्राकृत' काल में यह क्षेत्र (पूर्वी उत्तर भारत) 'कोसल' देश के नाम से ज्ञात रहा। बौद्ध और जैन साहित्य के अतिरिक्त अन्य समकालीन ग्रन्थों में भी 'कोसल' प्रदेश का विभिन्न रूपों में उल्लेख प्राप्त है। लगभग दो सौ वर्ष ईसापूर्व से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी के आसपास तक के समय में, इसी क्षेत्र में 'अर्धमागधी' प्राकृत जनप्रयोग की भाषा का रूप ले रही थी। उसी से, अन्य लोकबोलियों की भाँति, संभवतः परवर्ती देशभाषा 'कोसली' विकसित हुई।

अपभ्रंश-अवहट्ठ-काल (छठी से बारहवीं शताब्दी के मध्य) में जब अर्धमागधी क्षेत्र की जनपदीय लोक बोलियाँ प्रयोग की खराद पर चढ़कर निखरने लगीं तो 'कोसली' को भी समसामयिक परिस्थितियों के बीच एक स्थिर व्यवस्थित लोक-साहित्यिक बानगी मिली। शायद वही 'कोसली' अथवा अर्धमागधी प्राकृत के अन्तर्गत उसी की कोई समकालीन समीपवर्ती बोली विभिन्न लोक-आख्यानों के माध्यम से स्पष्ट आकार ग्रहण कर गई।

इस आधार पर 'कोसली' या उसी की किसी सहवर्तिनी जनबोली को 'अवधी' का उद्भव-स्रोत माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में, प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अभिमत यहाँ उल्लेखनीय है—**'कोसली भाषा बारहवीं शताब्दी के मध्य में पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी।...यह पूर्वी हिन्दी की एक बोली** है (दामोदर-रचित **'उक्ति व्यक्ति प्रकारण', भूमिका,** पृष्ठ 70)। इसी भूमिका में डॉ. मोती चन्द्र ने भी यही मत अभिव्यक्त किया है (पृष्ठ 74)। 'अवधी' भाषा के सम्बन्ध में पहली बार सांगोपांग विचार करके 'अवधी का विकास' नामक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले विद्वान भाषावैज्ञानिक डॉ. बाबूराम सक्सेना भी कोसली को 'अवधी' की पृष्ठभूमि मानते हैं।

उद्भव स्रोत

प्राचीन हिन्दी में अवधी के बीजांकुर नौवीं-दसवीं शताब्दी से ही दिखाई देने लगते हैं। यथा—

(क) जहि वण पवन न संचरइ, रवि ससि नाइ पवेस।
तहि वट चित्त विसराम करु, सरहे करिअ उवेस।। *(सरहपा)*

(ख) अणहद सबदै संखवुलाइआ, काल महादल दलिआ लो। *(गोरखबानी)*

दामोदर द्वारा रचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की रचना बारहवीं शताब्दी के आस-पास हुई बताई जाती है। इसमें प्राप्त भाषिक प्रयोग 'कोसली' के बहुत निकट जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, इसी समय के आसपास 'संनेह रासउ' (सन्देश रासक) की रचना पश्चिमोत्तर भारत (मुलतान—वर्तमान पाकिस्तान) के लोककवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने की जिसकी भाषा को भाषावैज्ञानिकों ने 'अवहट्ठ' नाम दिया है जो वास्तव में 'अपभ्रष्ट' (अपभ्रंश) का ही बदला हुआ उच्चारण है। **इस कृति (सन्देश रासक) में अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिनमें समकालीन 'कोसली' अथवा परवर्ती अवधी का छायाभास देखा जा सकता है।** इसी युग में, 'अवहट्ठ' के एक अन्य कवि, मैथिलकोकिल विद्यापति ने स्थानीय देशभाषा में 'कीर्तिलता' की रचना की और उसमें 'देसिल बअणा' (देशभाषा) को 'सभजण मिट्ठा' (सर्वसामान्य के लिए मधुर, रुचिकर) बताया। 'कीर्तिलता' की भाषा में 'कोसली' का पुट अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि इसे रचनाकार कोसल प्रदेश से सटे मिथिला क्षेत्र के ही लोकप्रिय कवि थे। **परवर्ती अवधी की अनेक भाषिक प्रवृत्तियाँ 'कीर्तिलता' की भाषा-संरचना में स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। यहाँ तक कि विद्यापति द्वारा रचित 'पदावली' (जिसके कारण वे 'मैथिल')** में भी अवधी की भाषिक प्रवृत्तियों के बीज विद्यमान हैं। लगभग इन्हीं के समकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' और 'देशी नाम माला' की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों में आचार्य हेमचन्द्र ने देशभाषा व्याकरण की आधारशिला रखी। इनमें उदाहरणस्वरूप दिए गए विभिन्न रचनाकारों के पद्यों में समकालीन 'कोसली' और परवर्ती 'अवधी' के भाषायी स्वरूप का साम्य कई जगह लक्षित होता है।

लगभग चौदहवीं शताब्दी में संकलित 'प्राकृत पैंगलम्' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। (आजकल इसकी वंशीधर-कृत 'टीका' आधार-सन्दर्भ के रूप में ग्रहण की जाती है।) इसमें भी पूर्ववर्ती एवं समकालीन असंख्य रचनाकारों के अनेक उदाहरण संकलित हैं। उनमें से अनेक में 'अवधी' के पूर्वरूप की बानगी मिलती है। इसी सन्दर्भ में एक अन्य लघु काव्यकृति 'राउल बेल' राजकुल विलास का नाम उल्लेखनीय है। इसके रचनाकार 'रोडा' नामक एक लोक-कवि बताए जाते हैं। यह मूलतः एक चट्टान पर खुदी रचना है जिसकी खोज बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई।

प्राचीन काव्य के प्रसिद्ध शोधकर्ता विद्वान डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने सर्वप्रथम इसका सम्पादन किया। विद्वानों ने इसका रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के मध्य अनुमानित किया है। इसमें भी यत्र-तत्र 'अवधी' भाखापन झलकता है। डॉ. माताप्रसाद ने इसे 'दक्षिण कोसली' की संज्ञा दी है (हिन्दी अनुशीलन, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, विशेषांक, 1960, पृष्ठ 10)। इसी प्रकार, ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा रचित 'वर्णरत्नाकर' मध्यकाल की एक अन्य भाषांशास्त्रीय कृति है जिसे 'अवधी' के पृष्ठाधार के रूप में एक सन्दर्भ-स्रोत माना जा सकता है।

संक्षेप में, 'अवधी' भाषा के साहित्यिक स्वरूप के निर्माण से पूर्व पूर्वपीठिका तैयार करने वाली सामग्री के अन्तर्गत प्रमुखतया इन रचनाओं का नामोल्लेख किया जा सकता है—(1) कीर्तिलता और पदावली (विद्यापति), (2) सन्देश रासक (अद्दहमाण), (3) शब्दानुशासन (आठवां अध्याय) और देशी नाममाला (हेमचन्द्र), (4) प्राकृत पैंगलम् (टीका-वंशीधर), (5) उक्ति व्यक्ति प्रकरण (दामोदर), (6) वर्णरत्नाकर (ज्योतिरीश्वर ठाकुर), (7) राउलबेल (रोडा)।

साहित्यिक भाषा 'अवधी'

भाषा का वास्तविक प्रमाणीकरण जन-प्रयोग से होता है, कोश या व्याकरण-ग्रन्थों से नहीं। प्रयोग की खराद पर तराशी जाने के बाद ही कोई बोली, विभाषा या उपभाषा के रूप में निखरती है। मध्ययुग में 'अवधी' का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास इस तथ्य का जीवन्त साक्ष्य है। इसके कारणभूत तत्त्व सिद्ध हुए लोकभूमि में अंकुरित और पल्लवित प्रेमाख्यान। पश्चिम-दक्षिण और उत्तर भारत में जहाँ विभिन्न कारणवश हो रहे युद्धों के नगाड़े गूँज रहे थे, लोककवि और चारण-गायक उत्साह-प्रेरक वाणी का विधान कर रहे थे, और जहाँ पूर्वी उत्तर भारत में सिद्धों, नाथपन्थियों और जैन-साधुओं के लोकमंगलकारी मुक्तक, प्रबन्धकाव्यों की रचना का सिलसिला जारी था, वहीं सर्वत्र लोकगीतों और लोक-आख्यानों के रूप में देश-भाषाएँ लौकिक प्रेम-साहित्य से समृद्ध हो रही थीं।

नल-दमयंती, उषा-अनिरुद्ध, माधवानल-कामकन्दला, मधुमालती और भरथरी-पिंगला आदि के प्रेमाख्यान जन-वाणी में लोक-प्रिय हो रहे थे। विद्यापति-कृत 'पदावली' हो या अद्दहमाण-रचित 'सन्देश रासक', रोडा-प्रणीत 'राउल बेल' हो या अपभ्रंश-काव्यसंग्रहों में संकलित राजा मुंज और कर्णावती के प्रेम-प्रसंगों से अनुस्यूत गाहा-दूहा आदि छन्द—इन सबके मूल में अदम्य संवेदनशील अनुभूति के रूप में प्रेमतत्त्व संचरित है। योग-ज्ञान, भक्ति-वैराग्य, अध्यात्म-चिन्तन और जीवन एवं

समाज के वैविध्यपूर्ण आयामों के बीच ये प्रेमाख्यान कितने लोकचर्चित थे, इसका अनुमान मध्यकाल के मध्य बिन्दु (सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी) में पुहकर (पुष्कर)-रचित 'रसरतन' की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है–

ब्रह्म रूप सिरजै ज़गत, विस्नु रूप प्रतिपाल।
कामरूप क्रीड़ा करी, रुद्ररूप महाकाल।।
कामरूप क्रीड़ा करै, ते कलि कथा अनेक।
मन भोरौ, थोरी सुमति, पौहकर बरनत एक। *(आदि खंड, 16-17)*

–दमयंती नल नीति कहानी, भाषति सार मधुर मुख बानी।
माधव काम की कीर्ति बखानी, जिहि सुनि मन विसरावै रानी।
ऊषा कथा जवै अनुसारी, तव चितई भरि नैन कुमारी।।
–चित्ररेख अनुरुद्ध का लाई, ऊषा भनमत्थ सताई।
मधुमालति सौं कुँवर मिलावा, सो कविता गुन गाननि गावा।
–चत्रित सकल प्रेम रस प्रीति, माधौ कामकंदला रीति।
अग्निमित्र इरावति धाता, भरथरि प्रेम पिंगला राता।।
(स्वयंवर खंड, 233-234)

इसी के लगभग एक सौ वर्ष बाद, बनारसी दास जैन ने अपनी प्रसिद्ध (हिन्दी की सर्वप्रथम) आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' में लिखा है कि किस प्रकार जन-सामान्य कामधंधा तक भूलकर प्रेमकथाएं सुनने में तन्मय रहा करते थे–

तब घर बैठे रहैं, जाहिं न हाट बजार।
मधुमालती, मिरगावती, पोथी दोइ उदार।।
ते वांचहिं रजनी समै, आवहिं नर दस बीस।
गावैं अरु वातैं करहिं, नित उठ देहिं असीस।।

मधुमालती जैसी लोककाव्य-बद्ध प्रेमकथाओं की जनप्रियता का साक्ष्य प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी 'पद्मावत' नामक प्रेमाख्यान में प्रस्तुत किया है–

साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहं कीन्ह वियोगू।

इसी प्रकार 'माधवानल कामकंदला' के जिस प्रेमाख्यान के आधार पर मध्ययुग

के दर्जनों कवियों ने काव्यरचना की, उसकी कथा बहुत पुरानी होती हुई भी इस दृष्टि से नई थी कि ऐसी ही एक प्रेमकथा के लोकनायक माधव निकट-अतीत अर्थात् बारहवीं शताब्दी में भी हुए थे जो पुष्पावती (बिलहरी—मध्य प्रदेश) के थे और नायिका कंदला कामावती की थी। लोकगायन में यही कथा पूर्वपरम्परा से जुड़कर नए-नए रूप धारण करती रही।

देशभाषाओं (जिनमें कोसली या परवर्ती अवधी भी शामिल है) को यह विरासत प्राचीन आर्यभाषा (वैदिक संस्कृत) और मध्यकालीन आर्यभाषाओं—पालि-प्राकृत, अपभ्रंश-अवहट्ठ से प्राप्त हुई थी। ऋग्वेद के संवाद-सूक्त का 'उर्वशी-पुरुरवा आख्यान, हरिवंश पुराण की उषा-अनिरुद्ध कथा, महाभारत का नलोपाख्यान, कालिदास रचित 'विक्रमोर्वशीय', 'मालविकाग्निमित्र'। बाणभट्ट-प्रणीत 'कादम्बरी', श्रीहर्ष-रचित 'नैषधचरित' (नलोपाख्यान) और भवभूति-रचित 'मालती माधव' भारतीय साहित्य की ही अमर कृतियाँ नहीं, लोकचेतना में रची-पची शाश्वत प्रेम-कथाएँ भी हैं। इसी परम्परा में, बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत 'कट्ठहारि जातक' (बह्मदत्त और लकड़हारिन का प्रेमाख्यान) और 'थेरगाथा' में 'शुभा' की प्रेमकथा का उल्लेख किया जा सकता है—जैन साहित्य में भी, तरंगवती, लीलावती और 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदंत कथा) के प्रेमाख्यान बहुचर्चित हैं।

तात्पर्य यह है कि बारहवीं शताब्दी तक विभिन्न प्रेमाख्यान लोकवाणी और साहित्य के स्तर पर समानान्तर रूप से विकास प्राप्त कर रहे थे। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में इन्हें व्यवस्थित रूप मिलने लगा। इस बीच (चौदहवीं शताब्दी में) एक ऐसा सुयोग हुआ कि इन प्रेमाख्यानों के लिए 'कोसली' भाषा और दोहा-चौपाई शैली रूढ़-सी हो गई। यह सुयोग था—पूर्वी उत्तर भात में रहने वाले सूफी सन्तों द्वारा, अपने रहस्यवादी सिद्धान्तों (लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम-इश्क मिज़ाजी से इश्क हकीकी) के प्रसार-प्रचार हेतु इस क्षेत्र (अधिकांशतः अवध) के लौकिक प्रेमाख्यानों का वहाँ की लोकवाणी (कोसली/अवधी) में सरस-रोचक काव्यमय चित्रण। यही 'कोसली' के 'साहित्यिक भाषा अवधी' के रूप में प्रतिष्ठित होने की प्रथम प्रस्थान-बिन्दु है।

इस सन्दर्भ में पहला उल्लेखनीय काव्यग्रन्थ है—लोरिकचन्दा अथवा 'चांदायन' (रचनाकाल अनुमानतः 1370 ई.) जिसके रचनाकार हैं मुल्ला दाऊद। ये अवध क्षेत्र के निवासी थे। इन्होंने अपने समकालीन लोक-परिवेश से, एक बहुचर्चित लोककथा ग्रहण कर, उसे वहीं की सहज लोकभाषा में बड़ी सहज-सरस, मधुर शैली

में काव्यबद्ध किया। इस बीच, सूरदास-रचित नल-दमन, लालदास-कृत हरिचरित और ईश्वर दास-प्रणीत सत्यवती कथा आदि काव्यकृतियों में भी 'अवधी' का आरम्भिक साहित्यिक रूप दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अधिक लोकप्रियता सूफी कवियों की लोकानुभूतियों वाले प्रेमाख्यानों को ही मिली।

इसी क्रम में, दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है कुतुबन-कृत 'मृगावती' (रचनाकाल अनुमानतः 1503 ई.)। इसकी लोकप्रियता का संकेत, पीछे, बनारसीदास जैन द्वारा रचित 'अर्द्धकथानक' के उद्धरण के अन्तर्गत किया जा चुका है।

'अवधी' भाषा को साहित्यिकता का सर्वाधिक अवदान प्रदान करने वाले सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का नाम सर्वप्रमुख है। ये ठेठ अवध क्षेत्र के निवासी और वहाँ के सामान्य जनजीवन के कुशल पारखी थे। 'अवधी' में रचित इनकी अनेक काव्यकृतियाँ बताई जाती हैं, जिनमें 'पद्‌मावत' को मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठ प्रेमाख्यानक प्रवन्धकाव्य होने का श्रेय प्राप्त है। इसके कथानक में कवि ने 'इतिहास' और 'लोकाख्यान' का अनूठा सामंजस्य प्रस्तुत किया है। इसका कथा-क्षेत्र राजस्थान (चित्तौड़), दिल्ली के ऐतिहासिक स्थलों और 'सिंहलदीप' के कल्पित काव्यलोक के बीच फैला होने पर भी इसमें चित्रित जनजीवन लोकविश्वास और सामाजिक बिम्ब अधिकांशतः 'अवध' अंचल की झलक प्रस्तुत करते हैं। भाषा भी ठेठ अवधी है जिसमें संस्कृत और फारसी की अर्द्धतत्सम और तद्‌भव शब्दावली के अतिरिक्त 'अवध' अंचल के देशज शब्दों और मुहावरों-लोकोक्तियों-सूक्तियों का विशेष प्राचुर्य है। 'पद्‌मावत' को वास्तव में 'ठेठ' अवधी की साहित्यिक सम्पदा का एक विलक्षण कोश और सन्दर्भ-स्रोत माना जा सकता है।

'पद्‌मावत' के उपरान्त 'अवधी में रचे गए कुछ प्रमुख प्रेमाख्यान काव्य इस प्रकार हैं—मधुमालती : मंझन (रचनाकाल अनुमानतः 1545 ई.) चित्रवली : उसमान (1613 ई.), रसरतन : पुहकर (1618 ई.), ज्ञानदीप : शेख नंबी (1619 ई.), अनुराग बाँसुरी : नूर मुहम्मद (रचनाकाल, अनुमानतः 1801 ई.), हंस जवाहिर : कासिम शाह (अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)।

'अवधी' के साहित्यिक भाषा के रूप में विकास का दूसरा और विशेष महत्त्वपूर्ण प्रस्थानाबिन्दु बना मध्ययुग में हिन्दी के रामभक्ति काव्यधारा का उन्नयन। सूफी कवियों द्वारा जिस ठेठ 'अवधी' का साहित्यिक रूप विकसित हो रहा था उसे हिन्दी की रामभक्ति काव्यधारा ने पुष्ट शास्त्रीय आयाम प्रदान कर एक परिष्कृत परिमार्जित साहित्यिक भाषा के साँचे में ढालने का ऐतिहासिक दायित्व निभाया। यद्यपि इसका सूत्रपात चौदहवीं शताब्दी के मध्य में, ग्वालियर के तोमर-राज-सभारत्न महाकवि

विष्णुदास 'रामायण-कथा' की रचना के माध्यम से कर चुके थे, तथापि उनकी भाषा 'अवधी' की बजाय 'ग्वालियरी', परवर्ती, कन्नौजी एवं ब्रज के अधिक निकट थी।

रामानन्द द्वारा प्रवर्तित रामावत सम्प्रदाय और उसके द्वारा संचालित रामभक्ति आन्दोलन का मुख्य केन्द्र राम की जन्मभूमि 'अवध' था। उनके लिए 'अवधी' का 'काव्यभाषा' के रूप में प्रयोग सूफी कवियों की भाँति अपने समकालीन लोक-परिवेश के चित्रांकन का परिणाम न होकर, धार्मिक आस्था और रामभक्ति विषयक दृष्टिकोण का परिणाम था। प्रेमाख्यान-काव्यधारा अधिकांशत लोकोन्मुखी थी तो हिन्दी की रामभक्तिकाव्य-परम्परा में अधिकतर शास्त्रोन्मुखता और लोकोन्मुखता का अद्भुत सामंजस्य है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जब रामानन्द द्वारा विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय पर आधारित 'रामावत' सम्प्रदाय का प्रवर्तन पूर्वी उत्तर भारत में हुआ तो उसका समकालीन देशभाषा-काव्य पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि एक ओर कबीर जैसे निर्गुणवादी सन्त की वाणी में दृष्टान्त-स्वरूप अनेक रामकथा-प्रसंग समाविष्ट हैं (राम मेरे पीव मैं राम की बहुरिया) तो दूसरी ओर सगुण भक्तिकाव्य के अन्तर्गत एक अविच्छिन्न रामकाव्यधारा ही प्रवाहित होने लगी। राम की जन्मभूमि 'अवध' की जन-बोली कोसली तब तक विभिन्न प्रेमाख्यान-काव्यों के माध्यम से साहित्यिकता का वरण कर ही चुकी थी, अव रामकथा-काव्य के माध्यम से वह एकदम परिष्कृत और परिमार्जित काव्यभाषा के रूप में निखर उठी।

हिन्दी में रामकाव्य-रचना का सूत्रपात यद्यपि ग्वालियर की राजसभा के रत्न महाकवि विष्णुदास सन् 1435 ई. में 'रामायण कथा' नामक दोहा-चौपाई-बद्ध प्रबन्धकाव्य द्वारा कर चुके थे, तथापि उसकी भाषा, 'ग्वालियरी' (कन्नौजी-ब्रज का मिश्रित रूप) है। 'कोसली' (परवर्ती अवधी) की उसमें यत्र-तत्र स्फुट झलक ही मिलती है। 'कोसल' क्षेत्र में इस रामकाव्य-परम्परा के शिरोमणि कवि हैं गोस्वामी तुलसीदास। तुलसीद्वारा रचित 'रामचरितमानस' न केवल 'अवधी' का प्रौढ़तम महाकाव्य है अपितु समूचे भारतीय जीवन-दर्शन के समन्वित काव्यमय आख्यान की दृष्टि से, समूचे भारतीय साहित्य (बल्कि विश्व साहित्य) की अमूल्य निधि है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' में अपने समय तक के समस्त काव्य में चित्रित रामकथा के विविध पक्षों का ऐसा लोक-जीवन-समन्वित सशक्त समाहार किया कि वे (तुलसी) और 'रामचरितमानस' एक प्रकार से रामभक्ति और रामकाव्य के पर्याय ही वन गए। —और इस समूचे श्रेय की अधिकारिणी बनी परिमार्जित कोसली अर्थात 'साहित्यिक अवधी'।

प्रेमाख्यान-काव्यों की 'अवधी' स्वभावतः लोक-प्रयोग की सहजता से संवलित है, जबकि तुलसी रचित रामकाव्य की अवधी लोक के साथ-साथ शास्त्रीय गम्भीरता, विद्वत्ता और प्रकृष्ट भाषिक प्रौढ़ता से भी मंडित है। इसका उपजीव्य विभिन्न दार्शनिक और भक्तिशास्त्रीय सिद्धान्त हैं—अतः शब्दकोशीय स्तर पर, इसमें तत्सम, अर्द्ध तत्सम प्रयोगों का बाहुल्य है। सरस-मार्मिक कथा-प्रसंगों में, विभिन्न चरित्रों की अन्तःसंवेदनाओं के प्रकाशन में और लोक-जीवन, ग्राम-नगर-वन-प्रकृति के सहज चित्रांकन में यही 'अवधी' लोकभाषा है तो गम्भीर तर्क-वितर्क, विचार-मंथन, सिद्धान्त-प्रतिपादन और दार्शनिक-सांस्कृतिक पक्षों के विवेचन में यह 'अवधी' विद्वत्समाज की परिनिष्ठत काव्यभाषा है।

संयोगवश, तुलसी के बाद विशाल रामकाव्य-परम्परा काव्यभाषा के स्तर पर 'अवधी' से क्रमशः दूर और ब्रज के अधिकतम निकट होती चली गई। कारण था हिन्दी की कृष्णभक्ति काव्यधारा के माध्यम से 'ब्रज' भाषा का सर्वत्र व्यापक प्रयोग-प्रसार। हाँ, तुलसी के समकालीन भक्त और नीतिज्ञ रहीम (अब्दुलरहीम खानखाना) द्वारा प्रणीत 'बरवै रामायण' में अवश्य 'अवधी' का स्वच्छ साहित्यिक रूप परिलक्षित होता है।

मध्ययुग के लगभग तीन सौ वर्षों में, साहित्यिक स्तर पर विकासपन 'अवधी' का स्वरूप, आगे दिए गए कतिपय उदाहरणों द्वारा देखा-समझा जा सकता है—

जायसी-पूर्व अवधी

1. (क) वदन पसेद बुंद जो आवहिं। चाँद मद्ध ज्यों नखत दिखावहिं।
   (ख) लांबे केस पाउं धुरि आए। जानु सेंदुरे नाग सोहाए।।
   (ग) तजि मारगु जो कुमारगि जाई। सो कस मुल्ला दरसावइ आई।।
   (घ) लंक बार अस दीठ न आवा।...*(चांदायन : मुल्ला दाऊद)*

2. (क) इस लागी मरन जग सहा। मैं कस न मानउ तोरा कहा।।
   जो कोउ काहु लागी दुष देखै। मीलइ सोइ अगनि पुन पेषै।।
   (मृगावती : कुतबन)

जायसी-कालीन अवधी

1. (क) तुरकी अरबी, हिंदवी, भाषा जेती आहिं।
   जेहि महं मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि।।

(ख) रतनसेन हीरामन चीन्हा। एक लाख बांमन कहं दीन्हा।
विप्र असीसा कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमन्दिर महं आना।

(पद्मावत : मलिक मुहम्मद जायसी)

2. अमर न कोउ काहू कै पारै। मरी जो जीअै तेहि जमु न मारै।।
प्रेम की आगि सही जिन आंच। सो जन जनमी काल के बांच।।
जेहि भा प्रेम अमीरस परचै, काल बरै का पार।
उदधि सहस काल कै, तरिहहिं प्रेम अधार।।

(मुधमालती, मंझन)

3. पुहकर सागर प्रेम कर, निपट गहिर गम्भीर।
इहि समुद्र जो नर परै, बहुरि न लागाहि तीर।।

(रसरतन : पुहकर)

4. जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा।।
हिन्दू मग पर पाँव न राखेउ। का जो बहुतै हिन्दी भाखेउ।।

(अनुराग बाँसुरी : नूर मुहम्मद)

जायसी-परवर्ती (तुलसी-युगीन) अवधी

5. (क) नील सरोरुह नीलमनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन शोभा निरखि, कोटि-कोट सत काम।।
पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन मधुप बसत जेन्ह माहीं।।
वाम भाग सोहति अनुकूला। आदि सक्ति छवि निधि जगमूला।।

(ख) जग पेखन तुम्ह देखन हारे। विधि हारे संभु नचावन हारे।
तेउ न जानिआहिं मरम तुम्हारा। औरु तुमहि को जाननिहारा।।

(रामचरितमानस : गोस्वामी तुलसीदास)

'अवधी' की भाषिक प्रवृत्तियाँ एवं व्याकरणिक विशेषताएँ
ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ

1. अवधी में 'उकारान्तता' (अन्तिम व्यंजन के उ-सहित उच्चारण) की प्रवृत्ति प्रमुख है। यह विशेषता उसे अर्धमागधी, अपभ्रंश और अवहट्ठ से मिली है। रामु,

बिनु, सतु, बनु, मातु, करवारु, संसारु, राजु, काजु इत्यादि। कहीं-कहीं दीर्घ उकारान्तता की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है—सुलतानू, पाहरू, इत्यादि।

2. यह उकारान्तता की प्रवृत्ति पुल्लिंगवाची शब्दों में अधिक है, स्त्रीवाचक शब्दों में कम। कहीं-कहीं स्त्रीवाची शब्दों के अन्तिम व्यंजन इकारान्त उच्चरित होने की प्रवृत्ति भी है—कहनि, रहनि, राति, कटारि इत्यादि।

3. ऐ > अइ (उच्चारण) – जैसा > जइसा, पैसा > पइसा, बैल > बइल।

4. औ > अउ (उच्चारण) – औषधि > अउखध, और > अउर, कौन > कउन।

5. स्वर-विवृति अथवा सन्धि-साहित्य, अर्थात् इ, उ आदि स्वर जहाँ प्रायः सन्धि के कारण य, व उच्चरित होते हैं, वहाँ अवधी में इनका उच्चारण विरल इ-अ, उ-अ ही होने की प्रवृत्ति है—अभिआगत, सुआगत। इसी प्रवृत्ति के कारण सामान्यतः य-व से संयुक्त व्यंजन भी इ-अ, उ-अ रूप में उच्चरित होने की प्रवृत्ति प्रबल है—द्वार > दुआर, प्यार > पिआर (उदा. 'मैं बैरी सुगरीव पिआरा'—तुलसी)।

6. इसी प्रवृत्ति की एक झलक क्रियाविशेषणों के आद्य अर्द्ध स्वर (य-व) के उच्चारण में भी दिखाई देती है, अर्थात् आरम्भिक अर्द्ध स्वर य > इ के रूप में और व > उ के रूप में उच्चरित होता है—यत्र > इत, यहाँ > इहाँ, वहाँ > उहाँ।

7. ऋ > रि – ऋषि > रिसि, ऋतु > रितु, ऋण > रिन।

8. आरम्भिक व प्रायः ब – वदन > बदनु, वर्षा > बरखा।

9. मध्यवर्ती व कहीं ब कवि > कबि, कहीं उ पवन > पउनं। (अपवाद व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मध्यवर्ती व का उच्चारण प्रायः व ही रहता है—रावण > रावन, जबकि आरम्भिक व का उच्चारण ब उच्चरित होने की प्रवृत्ति है—विश्वामित्र > बिस्वामित्र, विभीषण > बिभीखन)।

10. अन्त्य (शब्द का अन्तिम) व कहीं-कहीं 'उ' के रूप में उच्चरित दाव > दाउ, राव > राउ, नाव > नाउ, स्वभाव > सुभाउ।

11. ण > न – रावण > रावन, कारण > कारन, रण > रन।

12. श > स, शीश > सीस, शृंग > सिंग, शृंगार > सिंगार, शरण > सरन।

13. ष > ख – भाषा > भाखा (उदा. खग जानै खग ही कै भाखा– तुलसी), वर्षा > बरखा, षट > खट (उच्चारण) विभीषण > बिभीखन।

14. संयुक्त व्यंजन प्रायः विरल (अलग-अलग) रूप में उच्चरित-प्रवीण > परबीन, कार्य > कारज, भ्रम > भरम (उदाहरण—लोक भरम हम पर करैं... रहीम) कृपा > क्रिपा > किरपा, आश्चर्य > आसचरज (अचरज)।

15. आद्य और अंत्य (आरम्भिक और अन्तिम) य प्रायः ज रूप में उच्चरित-यौवन > जोबन, कार्य > कारज, यज्ञ > यग्ग, यामिनी > जामिनी, युवती > जुबति, युक्ति > जुगति, दाय > दाज, आश्चर्य > आसचरज (अचरज)।

16. मध्यवर्ती ल और ड़ का प्रायः र के रूप में उच्चारण–उलझन > उरझन, ग्वालियर > ग्वारियर, पड़यो > परयो, लड़ाई > लराई। उदा. लंक बार जस दीठ न आवा–मुल्ला दाऊद, (कमर बाल जैसी (सूक्ष्म) है...)।

रूप-रचना सम्बन्धी विशेषताएँ

संज्ञा : 1. अकारान्त पुर्ल्लिग जातिवाचक या भाववाचक संज्ञाएँ प्रायः उकारान्त (बनु, रामु, घरु, सिंगारु, राजु) और आकारान्त या अकारान्त स्त्रीवाचक संज्ञाएँ कहीं उकरान्त (मातु), कहीं इकारान्त (राति), पर सर्वत्र यह प्रवृत्ति नहीं।

2. जातिवाचक या भाववाचक पुल्लिंग संज्ञाओं के अन्त में प्रायः 'वा' जोड़कर बोलने की प्रवृत्ति-बिरवा, लरकवा, मितवा, बचवा, मनुवा।

3. जातिवाचक या भाववाचक स्त्रीवाची संज्ञाओं के अन्त में 'इया' (बहुवचन में 'इयां') जोड़कर बोलने की प्रवृत्ति–बिटिया, रतियाँ, बतियाँ, खटिया, बहिनिया।

4. संज्ञाओं के बहुवचन रूप बनाने के लिए अधिकतर 'न्ह' परसर्ग का प्रयोग–बालकन्ह, लरिकन्ह, बातन्ह, सखिन्ह (उदा. 'मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा'–जायसी), सुरन्ह (उदा. सुरन्ह दीन आहार–तुलसी) अपवाद-स्वरूप कहीं+ न परसर्ग भी आंखिन, बातन।

विशेषण : 5. प्रायः गुणवाचक विशेषण अकारान्त-छोट लरकवा, छोट बिटिया, बड़, बहुरिया, मोट लरकिया, भल मितवा इत्यादि। इसी प्रकार जस, तस, अस (जैसा-जैसी, वैसा-वैसी, ऐसा-ऐसी)।

क्रिया : 6. अवधी की क्रिया सम्बन्धी रूप-रचना की अनेक विशेषताएँ या प्रवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

(क) संज्ञार्थ क्रियाओं (अथवा क्रियार्थ संज्ञाओं) के अन्त में 'इबो' परसर्ग जुड़ने की प्रवृत्ति-जाइबो, खाइबो, मांगिबो, मरिबो (उदा. मांगन से मरिबो भलो, मत कोई मांगन जाहिं–रहीम)।

(ख) पूर्वकालिक क्रिया के लिए प्रायः +इ परसर्ग– 'करि, चलि, लिखि (उदा. सत्य कहौं लिखि कागद कोरे–तुलसी)।

(ग) भूतकालिक क्रिया रूपों के अन्त में + न, + ना, + न्ह, + न्हा (स्त्रीवाची

रूपों में कहीं कहीं नी-न्ही) परसर्ग का प्रायः प्रयोग-दीन (दिया), कीन-कीना-कीन्हा (किया), कीनी, कीन्ही (की), (उदा. कथा प्रसंग कीन गुन डोरा—पुहकर, 'रसरतन')।

(घ) अधिकांश भूतकालिक क्रियाओं के मध्यवर्ती व्यंजन हलंत-लिख्यो, गिर्‌यो, चल्यो, कह्‌यो इत्यादि।

(ङ) भविष्यत्‌कालिक क्रिया रूपों में प्रायः ब परसर्ग जुड़ने की प्रवृत्ति-चलब (चलेगा, चलूंगा, चलेंगे, चलोगे आदि), उठब, करब, कहब, इत्यादि।

(च) भविष्यत्‌कालिक (पुल्लिग-स्त्रीलिंग) क्रिया पदों के अन्त में प्रायः एकवचन में 'हे' परसर्ग—जैहे (जायेगा, जायेगी) और बहुवचन में 'हैं' परसर्ग जैहें (जायेंगे, जायेंगी)।

(छ) वर्तमानकालिक, उत्तमपुरुष एकवचन पूरक क्रिया (हूं) के लिए प्रायः 'हौं' —जानत हौं (जानता हूं, जानती हूं)।

(ज) कहीं-कहीं मध्यमपुरुषवाची वर्तमानकालिक एकवचन क्रियापद के साथ+सि परसर्ग—कहसि (कहती हो, कहते हो)।

(झ) कहीं-कहीं वर्तमानकालिक उत्तमपुरुष, बहुवचन क्रिया के साथ + 'हिं' परसर्ग—एक कहहिं हम बहुत न जानहिं (कुछ-एक कहते हैं, हम अधिक नहीं जानते हैं)। और एकवचन में + 'हि' परसर्ग—इहिं समुद्र जौ न परै, बहुरि न लागाहि तीर (किनारे नहीं लगता है)।

(ञ) भविष्यत्‌कालिक, उत्तमपुरुष एकवचन क्रिया (धातु) के साथ +'उं' परसर्ग—चलउं (चलूंगा), करउं (करूंगा) (उदा. प्रगट करउं रिस पाछिल आजू—तुलसी)।

(ट) भविष्यत्‌कालिक, अन्यपुरुष एकवचन क्रिया के साथ+'हइ'—करिहइ (करेगा, करेगी), चलिहइ (चलेगा, चलेगी), बहुवचन में+'हइं' -करिहइं (करेंगे, करेंगी), चलिहइं (चलेंगे, चलेंगी)।

7. **सर्वनाम**	**एकवचन**	**बहुवचन**
उत्तम पुरुष	मइं, हौं, हउं, हूं	हम
मध्यम पुरुष	तूं, तैं, तो (तिर्यक्)	तुम, तुम्ह
अन्य पुरुष	ता, तिस, उस, वा	ते, तिन, तिन्ह
अनिश्चयवाचक सर्वनाम	जोउ-सोउ, जोइ-सोइ	
निश्चियवाचक सर्वनाम—	या-वा,	
प्रश्नावाचक सर्वनाम—	को, कोइ,	

8. **कारकीय रूप-रचना**

(क) अवधी में कहीं-कहीं विभिन्न कारकों में विभक्ति या परसर्ग रहित रूप भी मिलते हैं—

1. केवट उतरि चरन तब धोवा। (तब केवट ने, उतरकर चरणों को धोया–ने, को परसर्ग नहीं।)

2. पूस जाड़ थर थर तन काँपा-(पौष में, जाड़े से शरीर थर थर कापने लगा–'में' और 'से' परसर्ग नहीं हैं।)

3. बुंद अघात सहहइं गिरि कैसे (बूंदों का आघात गिरि कैसे सहते हैं–'का' परसर्ग नहीं है।)

4. गगन पन्थ देखा मैं जाता (मैंने) (उसे) आकाश मार्ग में जाता (जाते हुए) देखा–'ने' 'में' परसर्ग नहीं है।)

(ख) कहीं-कहीं (अधिकतर तृतीया अर्थात् करण कारक और सप्तमी अर्थात् अधिकरण कारक के लिए) 'एं' संश्लिष्ट (योगात्मक) विभक्ति के रूप में–जलें (जल से), हियरें (हृदय में)।

(ग) वैसे अवधी में प्रायः कारकीय परसर्ग इस प्रकार मिलते हैं–

कर्त्ता–अधिकतर विभक्तिरहित–'केवट चरन गहे अकुलाई' (केवट के साथ 'ने' नहीं है।)

कर्म–अधिकतर 'हि' या 'हिं' परसर्ग–मोहि, रामहिं घरहिं।

कारण–सों,तें, सन, तन, पहि, पाहि, कहं, कहुं आदि

(मो सों, वा तें, तो सन, वा पहं, मो कहं आदि)

सम्प्रदान–प्रायः विभक्तिरहित या + न परसर्ग–देखन (देखने के लिए उदाहरण–'देखन बाग कुँवर दोउ आए'–तुलसी)। अथवा लागि (के लिए), वा लागि, तो लागि आदि।

अपादान–सों, सन, तें, तन आदि

सम्बन्ध–क, कर, (हरख क कारन) केर (माटी केर दीप जलहि), (केरा, केरे, केरी), कै (मोतिन कै माला), कहीं-कहीं उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम रूपों के एकवचन में. र (मोर तोर) और बहुवचन में 'आर' परसर्ग–हमार, तुम्हार इत्यादि।

–कहीं-कहीं सम्बन्धवाचक सर्वनाम में सम्बन्धकारकीय परसर्ग + 'सु' का प्रयोग–जासु (जिसका), तासु (उसका)।

–कहीं-कहीं सम्बन्धकारक विभक्ति या परसर्गरहित भी 'हम पितु बचन मानि बन आए'। (पितु के साथ 'का' या 'के' परसर्ग नहीं है।)

अधिकरण– +एं-माथें (माथे पर), महं (जेहि महं मारग प्रेमकर), मांह, माहिं (बन माहिं)।

—कहीं-कहीं अधिकरण कारक विभक्ति या परसर्गरहित भी—

(क) हम पितु वचन मानि बनु आए। (बन के साथ 'में' नहीं है)।

(ख) गोइ हिय राखी। (हिय के साथ 'एं' या 'माहिं' परसर्ग नहीं है)।

(ग) इहिं समुद्र जो नर परै, बहुरि न लागहि तीर (इस समुद्र में जो मनुष्य पड़ता है... 'समुद्र' के साथ 'में' सूचक 'हि' या 'हिं' या 'एं' परसर्ग नहीं है)।

9. 'निपात' (अव्यय) 'भी' 'ही' आदि के लिए अवधी में क्रमशः—'हूँ' और 'हू' के प्रयोग की प्रवृत्ति है—अजहू (आज भी), हाँहूं (मैं भी), उनहूं (उन्होंने भी), वाहू (वह ही-उसी), काहू (कोई ही-किसी) इत्यादि।

शब्दकोशीय स्तर पर सूफियों की ठेठ अवधी में अर्धतत्सम, तद्भव एवं देशज प्रयोगों की प्रचुरता है, जबकि रामभक्तिकाव्य की अवधी में तत्सम शब्द भी पर्याप्त परिमाण में प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ भी तद्भव और देशज शब्दों की न्यूनता नहीं है।

(ख) ब्रज

नामकरण, उद्भव-स्रोत एवं भाषिक पृष्ठभूमि

आज, भाषा के रूप में 'ब्रज' शब्द का प्रयोग उस जनपदीय बोली, उपभाषा या विभाषा के लिए होता है जिसका प्रयोग-प्रसार 'ब्रज' मंडल या 'ब्रज' प्रदेश में है। 'ब्रज' का मूल रूप 'व्रज' है जिसका तात्पर्य है—गोस्थल, गोष्ठ, गोकेन्द्र अथवा गोप-समुदाय का डेरा या वास। इस दृष्टि से, 'ब्रज' प्रदेश या मंडल के भौगोलिक सन्दर्भ में 'ग्वालियर' के पूर्व नाम 'गोपाचल' अथवा 'गोपाद्रि' की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। यह क्षेत्र, 'ब्रज' मंडल के रूप में ज्ञात मथुरा-आगरा-हाथरस से तो सटा हुआ है ही, प्राचीन कृषि-प्रधान शूरसेन-जनपद और मथुरा मंडल का भी निकटवर्ती स्थल रहा है।

वास्तव में, प्राचीन समय में जिस भाग को मध्यदेश, ब्रह्मर्षि देश, शूरसेन-जनपद, मथुरामंडल आदि नामों से अभिहित किया जाता रहा, वही मध्ययुग से और आज तक ब्रज प्रदेश कहलाता है। बौद्ध युग में यह प्रदेश एक विशाल भू-भाग के रूप में 'मज्झिम देस' या 'मध्यदेश' कहलाता था और इसके नौ महाजनपदों में सर्वप्रमुख था शूरसेन-जनपद। **ब्रज भाषा का उद्गम इसी जनपद की 'शौरसेनी प्राकृत' अथवा 'शौरसनी अपभ्रंश' से माना जाता है।** शूरसेन-जनपद की राजधानी मथुरा थी। मथुरामंडल की भाषा और संस्कृति ही समूचे देश में फैलकर 'ब्रजभाषा' और 'ब्रजसंस्कृति' के रूप में ख्यात हुई। यह मध्यदेश भारत का केन्द्र था। इसी केन्द्रीय

महत्ता के कारण यहाँ की भाषा समय-समय पर महत्त्व प्राप्त करती रही। ईसा से एक हजार साल पहले से लेकर बीसवीं शताब्दी के पहले चरण तक इस प्रदेश की भाषा सारे भारत के शिष्ट जनों, शिक्षितों, विद्वानों, साहित्यकारों आदि की वाणी पर विराजती रही है। वैदिक, संस्कृत, पालि, **शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश आदि के नामों से अपने-अपने युग में विख्यात यहाँ की भाषा ही पूर्वमध्यकाल में 'भाषा', 'भाखा', 'ग्वालियरी', 'हिंदुई' और 'ब्रज' के नाम से विकसित, पल्लवित और साहित्यिक स्तर पर अद्‌भुत गरिमा के साथ प्रतिष्ठित हुई।**

भाषा के रूप में 'ब्रज' नामोल्लेख सोलहवीं शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं मिलता, यद्यपि पृष्ठाधार के रूप में, इसके भाषिक सन्दर्भ नौवीं शताब्दी से ही मिलने लग जाते हैं। मध्यकालीन आर्यभाषाओं के अध्ययन-क्रम में, विद्वानों ने स्वयंभू (नौवीं शताब्दी), पुष्पदन्त (दसवीं शताब्दी), धनपाल (ग्यारहवीं शताब्दी) और शार्ङ.धर (लगभग बारहवीं शताब्दी) की रचनाओं में प्राप्त विभिन्न प्रयोगों को 'ब्रज' का पूर्ववर्ती रूप बताया है। उदाहरणतया–

(क) **नीझर झरै अमीरस पीवणां षट दल बेध्या जाइ।**
चंद बिहूंणां चांदिणां तहां देष्या गोरख राइ।

(डॉ. रामरतन भटनागर, प्राचीन हिन्दी काव्य, पृ. 340)

(ख) **थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी।**
दुहूं पषा की सन्धि बिचारै, सो को बिरला जोगी।

(जलंधरनाथ)

अपभ्रंश-अवहट्‌ठ और अन्य समकालीन देशभाषाओं के विद्वान आचार्य हेमचन्द्र रचित 'शब्दानुशासन' (आठवाँ अध्याय) और 'देशी नाममाला' में दिए गए असंख्य उदाहरणों में, शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित 'भाषा', 'हिंदुई', 'ग्वालियरी' या 'ब्रज' रूप की स्पष्ट झलक मिलती है। उक्खली (ऊखल > ओखरी), बाउल्लो (बावरा), ढिल्ली (दिल्ली), अग्गि (आगि) आदि इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में राजस्थानी-मिश्रित ओजपूर्ण डिंगल रचनाओं के समानान्तर कोमल-मधुर लालित्यपूर्ण पदावली युक्त जिन प्रेम-शृंगार-भक्ति काव्यों की भाषा को 'पिंगल' कहा जाता है, वह वास्तव में परवर्ती 'ग्वालियरी', 'हिंदुई' या 'ब्रज' की ही पूर्वपीठिका प्रस्तुत करती है। विद्यापति की 'पदावली' इसका जीवन्त साक्ष्य है। इसी समय के आसपास अमीर खुसरो ने अपने प्रसिद्ध फ़ारसी-हिन्दी कोश 'खालिक बारी' की

रचना की जिसके हर छन्द में पूर्वार्द्ध 'फ़ारसी' तथा उत्तरार्द्ध 'हिंदुई', 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' में है–

(क) जंब गुनाह जो कहिए दोस। खिश्को ग़ज़ब हिंदुई रोस। (66)

(ख) आलिम दाना हिंदवी बोल जो कहिए स्याना (42)

(ग) कोह दर हिन्दी पहाड़ आमद यकीं। (22)

अमीर खुसरो का प्रमुख कार्यकेन्द्र दिल्ली-आगरा रहा, अतः उनकी 'हिंदुई' या 'हिंदवी' समकालीन लोकभाषा (परवर्ती ब्रज) से भिन्न नहीं–

काहे को बियाहे बिदेस, सुन बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तेरे बागों की कोयल,
कुहकत घर घर जाऊं, सुन बाबुल मोरे॥

पंद्रहवीं शताब्दी में, मध्यप्रदेश अथवा शूरसेन-जनपद के अन्तर्गत ब्रज-क्षेत्र में क्रमशः साहित्यिक माध्यम के रूप में विकसित हो रही 'भाषा' एक अन्य नाम से अपनी अलग पहचान बनाने लगी। वह नाम था **'ग्वालियरी'**। ग्वालियरी बारहवीं शताब्दी से दिल्ली सल्तनत (कुतुबुद्दीन ऐबक) के शासनाधीन हो गया था। पन्द्रहवीं शताब्दी में वीरसिंह तोमर ने ग्वालियर को दिल्ली सल्तनत के अधिपत्य से मुक्त कर, वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस स्वतन्त्र ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत भाषा, साहित्य, कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। डूंगरसिंह और मानसिंह जैसे साहित्य-संस्कृति-कला प्रेमी शासकों की प्रेरणा से इस दिशा में ग्वालियर राज्य ने विशेष ख्याति अर्जित की। संगीत, स्थापत्य एवं अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त भाषाशास्त्र, साहित्य और साहित्यशास्त्र की समृद्धि में भी इस राज्य का उल्लेखनीय योगदान हुआ। संगीत सम्राट तानसेन और बैजनाथ (बैजू बावरा), विष्णुदास (विष्णुपद-गायकी के प्रवर्तक) इसी राज्य के राजसभा-रत्न थे। 'रइधू' जैसे विख्यात अपभ्रंश काव्य रचयिता जैन-कवि भी यहीं की विभूति थे।

मध्यदेश का केन्द्र और 'ब्रज' मंडल के सांस्कृतिक गढ़ मथुरा-आगरा के अत्यन्त निकटवर्ती होने के कारण, यहाँ उस इलाके की 'भाषा' या 'भाखा' का भी परिमार्जन, परिष्कार और साहित्यिक निखार हुआ। स्वयं विष्णुदास ने 'रामायण कथा', 'महाभारत कथा' और 'स्नेह-लीला' जैसी सरस काव्यकृतियाँ प्रस्तुत कर 'भाषा' को लालित्य प्रदान किया। इस प्रकार समूचे शौरसेनी क्षेत्र की विभिन्न बोलियों की तुलना में यहाँ की 'भाषा' एक विशिष्ट साहित्यिक स्वरूप की परिचायिका बन गई और उसे

'ग्वालियरी' नाम से एक विशेष पहचान मिली। रीतिकाल के प्रसिद्ध सतसईकार बिहारी का जन्म ग्वालियर में ही हुआ था। बाद में वे मथुरा जाकर बस गए। 'बिहारी सतसई' के प्रसिद्ध टीकाकार कवि कृष्ण लाल ने मध्ययुगीन विभिन्न लोकभाषाओं में 'ग्वालियरी' की 'रसवत्ता' को इन पंक्तियों में रेखांकित किया है–

देस देस में होत हैं, भाषा विविध प्रकार।
बरनत हैं तिन सबन मैं, ग्वारियरी रस-सार॥

इस बीच, पन्द्रहवीं शताब्दी में श्रीकृष्ण की जन्मभूमि और क्रीड़ाभूमि मथुरा-वृन्दावन में वल्लभाचार्य का आगमन हुआ। उन्होंने 'शुद्धाद्वैतवादी' सिद्धान्तों की जन-अनुकूल भक्तिपरक व्यावहारिक परिणति 'पुष्टिमार्ग' में की और तदनुसार, सूरदास आदि रससिद्ध गायकों को 'भगवत-लीला' के गायन में प्रवृत्त किया। परिणामस्वरूप थोड़े समय में ही, पूरा ब्रज क्षेत्र कृष्ण-प्रेम-रस-माधुरी से संपृक्त हो गया। वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय कृष्णलीला के आठ प्रधान गायक-कवियों का 'अष्टछाप' मंडल न केवल ब्रज क्षेत्र की 'भाषा' के लिए, अपितु समूचे हिन्दी साहित्य के लिए सन्देशवाहक सिद्ध हुआ। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इसका पहली बार नामकरण हुआ–'ब्रजभाषा'। उपलब्ध प्रमाणों में से, यहाँ सन् 1857 ई. में गोपाल कवि द्वारा रचित 'रस विलास' का यह दोहा उल्लेखनीय है–

मरु भाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषा चोज।

(अर्थात्, मैंने ब्रजभाषा की मधुरिमा का रसपान करने के बाद 'निर्जल' (नीरस) 'मरु' (राजस्थानी या बांगरू) भाषा छोड़ दी है।)

इस प्रकार एक सामान्य लोकबोली से साहित्यिक भाषा बनने की ब्रज की विकास-परम्परा वास्तव में हिन्दी साहित्य के समूचे मध्यकालीन साहित्य की विकास-परम्परा से जुड़ी है। इसका मूल उत्स भले ही भारत का मध्यदेश अथवा 'ब्रजप्रदेश' है तथापि धीरे-धीरे ब्रज के साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रज प्रदेश के बाहर भी महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार, मध्यभारत, अवध, बुन्देलखंड, राजस्थान और पंजाब तक अपना क्षेत्र-विस्तार कर लिया। केवल 'ब्रजवास' ही इसका मानदंड न रहा, सभी प्रदेशों के कवि इसमें काव्य-रचना कर धन्य हुए। यहाँ तक कि उत्तर मध्यकाल तक आते-आते, अन्य सभी भाषाओं में ब्रजभाषा ही उत्कृष्ट मानी जाने लगी। आचार्य भिखारीदास द्वारा रचित 'काव्यनिर्णय' में कहा गया है–

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।

(काव्य-निर्णय 2,16)

ब्रज के साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त, प्रचलित और मान्य होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। मिश्रबन्धुओं के कथनानुसार, सर्वप्रथम **सारंगधर** (शार्ङ्धर) नामक कवि ने संवत् 1350 (1300 ई.) के आसपास ब्रजभाषा का हिन्दी कविता में प्रयोग किया। उसके प्रायः तीस वर्ष पश्चात् **अमीर खुसरो** ने भी इसी को अपनाया जो पहले खड़ी बोली में कविता करते थे। सम्वत् 1450 (सन् 1400 ई.) के आसपास **नारायण देव** ने और 1480 (1425 ई.) में नामदेव ने ब्रजभाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके उपरान्त **विष्णुदास, चरणदास** और **वल्लभाचार्य जी** ने पूर्ण रूप से ब्रजभाषा को ही प्रधानता दी। **सूरदास** एवं अन्य कवियों ने ब्रजभाषा की छाप हिन्दी काव्य पर अमिट रूप से अंकित कर दी। यद्यपि अवधी, खड़ी बोली और अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी विरल रचनाएँ होती रहीं; परन्तु अधिकांश कविजन ब्रजभाषा में ही अनुरक्त रहे। (मिश्रबन्धु विनोद, भाग 3, पृष्ठ 1017-18)।

साहित्यिक भाषा : ब्रज

साहित्यिक भाषा के रूप में 'ब्रज' (भाषा) के विकास-इतिहास को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है–

1. सूरपूर्व ब्रजभाषा अर्थात् प्रारम्भिक अवस्था
2. सूरयुगीन (भक्तिकालीन) ब्रजभाषा अर्थात् विकासावस्था
3. रीतिकालीन ब्रजभाषा अर्थात् उत्कर्षावस्था

साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रजभाषा की विकास-परम्परा लगभग आठ-नौ सौ वर्ष तक समृद्ध होती रही। इस दीर्घ समय में सैकड़ों, हजारों कवियों और साहित्यकारों ने पद्य-गद्य-रचना में इसका उपयोग और प्रयोग किया। उन सबके साहित्यिक उद्धरणों अथवा उदाहरणों को प्रस्तुत करने के लिए अनेक विशाल ग्रन्थ भी अपर्याप्त होंगे।

यहाँ संक्षेप में, इस विकास-परम्परा की बानगी के रूप में सूरपूर्व युग, सूर-युग तथा सूर-पश्चात युग की साहित्यिक ब्रजभाषा की कुछ बानगी देखकर ही, उसके भाषिक एवं साहित्यिक स्वरूप का यत्किंचित् आभास प्राप्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम, **अमीर खुसरो** (तेरहवीं शताब्दी) का एक प्रसिद्ध दोहा–

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपणे, रैन भई चहुं देस॥

इसी प्रकार सन्त नामदेव (तेरहवीं शताब्दी) का एक काव्यांश अवलोकनीय है–

एक अनेक वियापक पूरन, जत देखउं तत सोई।
सभु गोविन्द हैं, सभु गोविन्द हैं, गोविन्द विनु नहीं कोई॥
जल तरंग अरु कौन बुदबुदा, जल तें भिंन न होई।

सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्य-प्रणेताओं में ग्वालियर के कविवर विष्णुदास का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्रीमद्भागवत के 'भ्रमरगीत' प्रसंग पर आधारित उनकी रचना 'स्नेह लीला' से एक उदाहरण–

अपनी अपनी मंडली, मिलि ग्वालन के वृंद।
मुरली मधुर बजावहीं, गावहिं गुन गोविंद॥
गोदोहन मोहन जिय, टेरत लै लै ताल।
गोरज उड़ि अबर लगी, छवि पावत नंदलाल॥

कबीर, नानक आदि सन्तों की 'वाणी' भी इसी 'भाषा' में प्रचारित हुई जिसे सूरपूर्व ब्रजभाषा का आदर्श उदाहरण कहा जा सकता है। कबीर कृत 'हरि जननी मैं बालक तोरा' तथा 'दुलहिनी गावहु मंगलचार' आदि पद हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। नानक रचित 'जपुजी' 'आसा दी वार' तथा अन्य अनेक ऐसे सबद आदि–ग्रन्थ (गुरु ग्रन्थ साहिव) में संकलित हैं जो सूरपूर्व ब्रजभाषा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। यथा–

अंम्रित नीरु गिआनि मन मंजनु, अठसठि तीरथ संगि गहे।
गुर उपदेसि जवाहर मानक, सेवे सिखु जो खोजि लहे॥

सूरयुगीन ब्रजभाषा काव्य एक विशाल रस-सागर तुल्य है जिससे साहित्य जगत भलीभाँति परिचित है। कतिपय उदाहरणों द्वारा यहाँ केवल एक औपचारिक झलक प्रस्तुत की जा सकती है–

सूरदास

मानौ माई घन-घन अंतर दामिनी।
घन दामिनी दामिनी घर अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनी।
× × ×

सुन्दर ससि गुन रूप राग निधि, अंग अंग अभिरामिनि॥

नन्ददास

जिनके नुपूर नाद सुनत जव परम सुहाए
तव हरि के मन नयन सिमिट सव स्रवनन आए
रुनुक झुनुक पुनि भलीभाँति सौं प्रगट हुईं जव
पिय के अंग अंग सिमटि मिले हैं रसिक नयन तव।

गंग

सुंदरि अंग सिंगाररति सौति के गरवनि गंजन कौ।
गंग कहै कर आरसि लै मन मोहन के मन रंजन कौ॥

रामभक्त और अवधी भाषा के निष्णात कवि तुलसी-कृत विनयपत्रिका और कवितावली आदि रचनाओं में ब्रजभाषा का अपूर्व लालित्य झलकता है–

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावहिं गीत सवै मिलि सुंदरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी, कंकण के नग की परछाहीं।
यातें सवै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥

अनेक मुस्लिम कवियों ने भी अपनी परम्परागत फ़ारसी भाषा के स्थान पर ब्रजभाषा में काव्य-रचना कर स्वयं को धन्य समझा। अमीर खुसरो, रहीम, रसखानि, आलम आदि का ब्रजभाषा काव्य इतिहास-प्रसिद्ध है–

रसखानि

मानुस हौं तो वहीं रसखानि वसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पासु होऊं तु कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौ तो उही गिरि को जो धर्यो हरि छत्र पुरंदर कारन।
जौ खग हौउँ तु बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंब कि डारन॥

सूरपरवर्ती युग अर्थात् उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) का प्रचुर हिन्दी साहित्य ब्रजभाषा के स्वर्णिम उत्कर्ष का परिचायक है। केशव से पद्माकर तक असंख्य

कवियों ने एक-से-एक बढ़कर अनूठे काव्यशिल्प से ब्रजभाषा का शृंगार किया। देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, ग्वाल और द्विजदेव के सरस छन्दों में ब्रजभाषा के साहित्यिक सौन्दर्य की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। भारत भर के कृष्णभक्त कवियों द्वारा तो ब्रजभाषा की माधुरी साहित्य-जगत में संचरित होती ही रही, अन्य निर्गुणोपासक सन्तों, रामभक्तों एवं दरबारी कवियों ने भी ब्रजभाषा को अपनी साहित्य-रचना का माध्यम बनाया। कतिपय उदाहरणों की एक झलक यहाँ संस्तुत है–

गुरु तेग बहादुर

नर अचेत पाप ते डरु रे!
दीनदयाल सगल भै भंजन, सरनि ताहि तुम परु रे!
वेद पुरान जासु गुन गावत, ताको नामु हिये में धरु रे!
नानक कहै गाइ करुनामय भवसागर के पार उतरु रे!

सेनापति

तो सों एक तू ही और दूसरो ने राजा राम, तेरे ही रचे हैं लोक सुर नर नाग रे।
आप तन देखिए, न देखौ करतूति मेरी, आपन उधारिवे की तेरे सिर पाग रे।
मो सो अपराधी है न तोसो है सहनहार, मो सो अवगुनी हैं न तो से गुन आगरे।

घनानन्द

मेरो ही जीव जो मारतु मोहि तौ प्यारे कहा तुम सौ कहनो है।
आंखिन हूं यहि वानि तजी, कछु ऐसोई भोगनि को लहनो है।
आस तिहारियै ही घन आनन्द, कैसे उदास भये रहनो है।
जानि के होत इतै पै अजान जो, तो विन पावक ही दहनो है॥

बिहारी

मेरी भववाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाई परै, स्यामु हरित दुति होइ॥
तजि तीरथ, हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग होत प्रयाग॥

देव

देव रावै सुखदायक सम्पति, सम्पत्ति कौ सुख दम्पति जोरी।
दम्पति दीपति प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति तहाँ गुन गीति विचार, विचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार कौ सार किसोर किसोरी॥

आधुनिक युग में भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न, बदरीनारायण 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक एवं जगन्नाथ दास रत्नाकर आदि कवियों ने ब्रजभाषा की उपर्युक्त साहित्यिक गरिमा को न केवल अक्षुण्ण रखा, अपितु, नई रचना प्रविधियों द्वारा उसे और भी सम्पुष्ट किया। दो उदाहरण–

भारतेन्दु

ऐहै कौन झूलन हिंडोरे बैठि संग मेरे,
कौन मनुहारि करि भुजा कंठ पारि है।
'हरीचंद' भींजत बचैहै कौन भींजि आप,
कौन उर लाइ काम ताप निरवारि है॥

रत्नाकर

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि सबै लगीं।
हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा,
हमको लिख्यो है कहा, कहन सबै लगीं॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक ब्रजभाषा उत्तरोत्तर साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होकर निखरती रही। आज भी इसका साहित्यिक रूप क्षीण नहीं हुआ। हाँ, सीमित अवश्य हो गया है। आधुनिक युग की बदलती परिस्थितियों में खड़ी बोली को वरीयता प्राप्त हुई। खड़ी बोली भी वास्तव में उसी मध्य देश (प्राचीन शूरसेन-प्रदेश) की ही भाषा है जिसे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कारणों से अतिशीघ्र विकसित होकर राष्ट्रभाषा और राजभाषा का पद ही नहीं मिला; वरन् साहित्य, शिक्षा और संचार-माध्यमों आदि में भी वर्चस्व

प्राप्त है। इस परिप्रेक्ष्य में ब्रजभाषा का क्षेत्र-संकोच और प्रयोग-संकोच स्वाभाविक ही था।

ब्रजभाषा की प्रमुख भाषिक प्रवृत्तियाँ एवं व्याकरणिक विशेषताएँ

'ब्रज' की भाषिक प्रकृति मूलतः मध्यदेशीय, अन्तर्वेदीय अपभ्रंश (प्रधानतया शौरसेनी) से विकसित हुई है, अतः इस क्षेत्र की अपभ्रंश-अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी की प्रमुख भाषिक प्रवृत्तियाँ ब्रज को विरासत में प्राप्त हैं। सरलीकरण (संयुक्त ध्वनियों का द्वित्वीकरण, समीकरण या विरलीकरण—विश्वास>बिसास, प्रतीति>परतीति), विश्लिष्टता (अयोगात्मकता), क्षतिपूरक दीर्घीकरण (पक्ष>पांख, अग्नि>आगि, अक्षि>आंखि) आदि अनेक भाषिक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश-अवहट्ठ, पुरानी हिन्दी और ब्रज में समान रूप से देखी जा सकती हैं। फिर भी 'ब्रज' की अपनी निजी भाषिक विशिष्टताओं का एक समग्र संक्षिप्त आकलन यहाँ अपेक्षित है।

ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ

1. ओकारान्तता (विभिन्न पदों—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया—के अन्त में + 'ओ' जोड़कर बोलने की प्रवृत्ति) ब्रज की प्रमुख पहचान है—ठिकानो, बानो (बाना-वेश), मेरो-तेरो, भलो-बुरो, छोटो-बड़ो, गयो-हुतो, लिख्यो, आयो, नवायो (झुकाया) आदि।

2. उपर्युक्त प्रवृत्ति के अपवाद रूप में, कहीं-कहीं कर्त्ता और कर्मवाची संज्ञाओं में उकारान्त प्रयोग भी लक्षित होते हैं- 'स्यामु हरित दुति होइ' ...(बिहारी), 'तज्यौ कंत कौ राजु' इत्यादि।

3. ऐ-औ, स्वरों का उच्चारण शौरसेनी अवहट्ठ की प्रकृति के अनुसार, अए-अओ होता है, अर्धमागधी या अवधी की भाँति अइ-अउ रूप में नहीं—जैसे : मैलो होइ न मित्त, बौराना, कौन आदि।

4. ऋ > रि (उच्चारण) ऋतु > रितु, उऋण > उरिन।

5. मध्यवर्ती अर्धस्वर (य-व) प्रायः मूलस्वर इ-उ के रूप में उच्चरित—नायक > नाइक, नेउर (नेवर)

6. स्थानवाची क्रियाविशेषणों के आरम्भिक अर्द्ध स्वर य-व का भी प्रायः मूलस्वर 'उ' 'इ' के रूप में उच्चारण—यहाँ > इहाँ, वहाँ > उहाँ।

7. इसी प्रवृत्ति के अनुसार निकटवर्ती स्थानवाची क्रियाविशेषणों के आरम्भिक

स्वर 'अ' का 'इ' रूप में तथा 'त' व्यंजन का 'उ' रूप में उच्चारण—इत (अत्र इधर या यहाँ), उत (तत्र-वहाँ या उधर)।

8. स्वर-विपर्यय (पहले स्वर का बाद में और बाद के स्वर का पहले प्रयोग) की प्रवृत्ति भी ब्रज में प्रायः लक्षित होती है—वानर > वनरा, और (अउर) > अरु, दृष्टि > दीठ, लज्जा > लाज, चांद > चंदा।

9. क्षतिपूरक दीर्घीकरण (किसी शब्द में किसी एक ध्वनि के लोप के साथ उसके बदले उसी शब्द के ह्स्व स्वर का दीर्घ हो जाना) अग्नि > आगि (न् का लोप (क्षति)), उसकी जगह आरम्भिक ह्स्व अ दीर्घ 'आ', चन्द्र > चाँद (चंदा), पंक्ति > पांति, विंश > बीस, कृष्ण > कान्ह।

10. कहीं-कहीं क्षतिपूरक रूप में अनुनासिकता—पक्षी > पंछी, पक्ष > पंख, निद्रा>नींद (निंदिया)।

11. ण > न—कारण > कारन, उऋण > उरिन, कृष्ण > कान्ह

12. आरम्भिक और अन्तिम (आद्य-अंत्य) य का ज रूप में उच्चारण—यज्ञ > जग्ग, यद्यपि > जदपि, यत्र > जहं, योग > जोग, यशोदा > जसोदा, कार्य > कारज (काज), आश्चर्य > अचरज।

13. आरम्भिक और मध्यवर्ती व प्रायः ब—वचन > बचन, कुवलय > कुबलय, वंशीवट > बंसीबट, यौवन > जोबन।

14. अन्तिम व प्रायः उ—दाव > दाउ, राव > राउ, चाव > चाउ।

15. श > स—यशोदा > जसोदा, शीश > सीस, शर > सर (वाण), आकाश > अकास, दश > दस, विंश > बीस (ऊधो, मन नाहीं दस बीस), महेश > महेस।

16. ष कहीं स, कहीं ख—शेष > सेस, अभिलाष > अभिलाख, वर्षा > बरखा, हर्ष > हरख, वर्ष > बरस (कोटि बरस), षट > खट, भाषा > भाखा, भासा। विष > बिख, बिस।

17. मध्यवर्ती ल प्रायः र—उलझत > उरझत, उदाहरण—दृग उरझत... (बिहारी) ज्यों त्यों सुरझयो चहत...। (बिहारी)

18. मध्यवर्ती ड़ भी प्रायः र—लड़्यो > लर्यो, लड़ाई > लराई, पड़त > परत, झगड़ो > झगरो, किवाड़ > किवार।

19. संयुक्त ध्वनियाँ प्रायः विरल (अलग) रूप में उच्चरित-मुक्ति > मुकति, कार्य > कारज, पर्वत > परवत।

20. कहीं-कहीं संयुक्त ध्वनियों में से एक का लोप होकर उनका

सरलीकरण—ग्राम > गाम, प्रिय > पिय, त्रिया > तिय, चन्द्र > चंद, श्वेत > सेत, (अपवाद-श्याम > स्याम (साम नहीं))।

रूप-रचना सम्बन्धी विशेषताएँ

संज्ञा : 1. जातिवाचक और भाववाचक आकारान्त पुल्लिग, संज्ञापद प्रायः ओकारान्त—छोरो, ठिकानो, बानो, चारो (चारा) दोनो (दोना), टीको, (टीका), अचंभो इत्यादि।

2. अकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त पुल्लिग-स्त्रीलिंग संज्ञाएँ प्रायः यथावत—मन, बन, यमुना (जमुना), हरि, लकरी (लकड़ी), ग्वाल, साधु (या साध), ब्योपारी, गठरी, बीन<बीण (वीणा), सारी (साड़ी), (कहीं-कहीं अकारान्त संज्ञा भी ओकारान्त—सन्देश>संदेसो)।

3. विशेषण पद अधिकतर 'विशेष्य' (संज्ञा) के अनुसार—बड़ो, नीको, प्यारो, न्यारो, भलो, छोरो (पुल्लिग), भली (बात), खरी, छोरी, गोरी (बूझत स्याम कौन तू गोरी), बहति (जमुना), सूखि (सरिता), भोरी (भोली), उदा. बातनि भुरइ राधिका भोरी (सूरदास) आदि स्त्रीलिंग।

4. (क) जातिवाचक और भाववाचक संज्ञा पदों के बहुवचन रूपों के अन्त में प्रायः + 'न' परसर्ग जुड़ने की प्रवृत्ति—दिनन, सखियन (सखीन) छोरान—छोरीन, कबिन।

(ख) कहीं-कहीं + 'नि' या 'नु' परसर्ग जुड़ने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है—नैननि, भगतनि, पतितनि (उदा. 'हौं पतितनि कौ टीकौ'—सूरदास), गुननु (उदा. 'बड़े न हूजे गुननु बिनु...' (बिहारी))।

सर्वनाम	बहुवचन	एकवचन
उत्तम पुरुषवाचक	हौं (हौं पतितनि कौं टीको), हउ मैं (मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो) (तिर्यक् मो—मोको, मोपै)	हम
मध्यम पुरुषवाचक	तूं, तैं (तिर्यक तो—तोको तोही)	तुम
अन्य पुरुषवाचक	बू, ऊ, वो, वा (वा पै),	ते, वे, तिन, उन्ह, उन
निश्चयवाचक	(निकटवर्ती) या (दूरवर्ती) वा, तिस	इन, इनन, तिन, तिनन
अनिश्चयवाचक	कोउ, कोइ, कोय, किहिं	किन, किनन
सम्बन्धवाचक	जो, सो, जा, ता जिहि, तिहि	जिन तिन
प्रश्नवाचक	कवन, कौन,	कौननु
निजवाचक	आपुनो, आपुन, आपन	अपननु, अपननि

कारकीय रूप-रचना की विशेषताएँ

कर्त्ता—नैं, ने (कहीं बिना विभक्ति या परसर्ग भी)

कर्म—कूं, कौं, को

करण—सों, सन, तें तैं

सम्प्रदान—कूं, कहीं-कहीं+इ (तोइ—तेरे लिए), काज (के लिए), हेत (के लिए) (उदा. 'लरयो ताही के हेत) लगि (लिए)।

अपादान—सो, सन, तें, तैं

सम्बन्ध—कि, को (का-के-की), कहीं-कहीं 'केर' भी (उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष सर्वनामों में एकवचन-बहुवचन में + रो परसर्ग जुड़ने की प्रवृत्ति—मेरो-तेरो, हमारो-तुम्हारो कहीं-कहीं रा-रे-री भी—हमारी हरि हारिल की लकरी)

अधिकरण—मांझ, माहिं, महिं, महं, पै

विशेष कारकीय प्रवृत्ति

(क) ब्रज भाषा के विभिन्न कारकीय रूपों में 'हि' या 'हिं' परसर्ग जुड़ने की प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है। मोहि-मोहिं, तोहि-तोहिं, तिनहि, हमहिं, बनहिं, सुतहिं।

(ख) कहीं-कहीं ब्रज में संश्लिष्ट विभक्तियों के उदाहरण भी मिलते हैं—ज्यों गूंगै गुड़ (गूंगे को), अपने भरोसैं लरिहौं (भरोसे पर), जसोदा हरि पालनैं झुलावैं (पालने में), इन उदाहरणों में 'ऐं' विभक्ति संश्लिष्ट है—पहले कर्म कारक के लिए और अन्य जगह अधिकरण कारक के लिए।

क्रिया सम्बन्धी रूपरचना

(क) भूतकालिक क्रियाओं के मध्यवर्ती व्यंजन प्रायः हलन्त रूप में उच्चरित—गिर्‌यो, चल्यो, कह्‌यो, जान्यो।

(ख) तिङन्त क्रियाओं के अन्तिम स्वर का प्रायः लोप (या ह्रस्वीकरण)—उदा 'कहत नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत, लजियात'—(बिहारी)। डोलत, फिरत, उठत, गिरत।

(ग) भूतकालिक पुल्लिग क्रियाएँ कहीं-कहीं ओकारान्त—गयो, हुतो, दियो (दिया), पठायो (भेजा), नवायो (झुकाया), कह्‌यो।

(घ) कहीं-कहीं भूतकालिक क्रियाओं के अंत में पुल्लिग में + न, ना और स्त्रीलिंग में नी परसर्ग—लीन, लीना (लिया) लीनी (ली)।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया पद प्रायः इकारान्त—लिखि, चलि, उठि, बैठि, दौरि (दौड़कर), जोरि (जोड़कर), गरजि।

(च) कहीं-कहीं पूर्वकालिक क्रिया रूप + इ जोड़कर, कहीं + वै जोड़कर भी बने दिखाई देते हैं—हुइ (होकर), ह्वै (होकर) च्वै (चूकर)।

(छ) संज्ञार्थ क्रियाएँ (अथवा क्रियार्थ संज्ञाएँ) प्रायः अन्त में + न परसर्ग—युक्त—चलन, फिरन, कहन, सुनन, लिखन आदि।

(ज) वर्तमानकालिक उत्तमपुरुषवाची क्रियाएँ एकवचन में प्रायः + औं परसर्ग—युक्त और बहुवचन में प्रायः + ऐ परसर्ग-युक्त-करौं (करता हूँ, करती हूँ), बंदौं (वंदना, करता हूँ), उदा. चरन कमल बंदौ हरिराइ—(सूरदास), जानौं (जानता हूँ) बहुवचन—जानैं (जानते हैं, जानती हैं—उदा. ऊधो, जाहु तुमहिं हम जानैं (सूरदास))।

(झ) भविष्यत्कालिक क्रियाओं में 'ग' परसर्ग के प्रयोग की प्रवृत्ति लिंग, वचन के अनुसार जाइगो (पु.), जाइगी (स्त्री.) जाहिंगे (बहुवचन)।

(ञ) सहायक क्रिया-रूप (वर्तमान कालिक)

उत्तमपुरुष एकवचन	हौं (जानत हौं सब रीति तिहारी।)
उत्तमपुरुष बहुवचन	हैं, हीं (जनत हैं, जानहीं।)
मध्यमपुरुष एकवचन	है, हौ (तूं जानत है, तै जानत हौ।)
मध्यमपुरुष बहुवचन	हौ (तुम जानत हौ।)
अन्यपुरुष एकवचन	है (ऊ जानत है।)
अन्यपुरुष बहुवचन	हैं (ते जानत हैं।)
सहायक क्रिया-रूप	(भूतकालिक)
उ.पु. एकवचन	हो (पु.) ही (स्त्री.) हुतो (पु.) हुती (स्त्री.)
उ.पु. बहुवचन	हुते, हे (गये हुते)
म.पु. एकवचन	हुतो-हतो (पु.) हुती-हती (स्त्री.)
म.पु. बहुवचन	हतो
अन्य पु. एकवचन	हुतो
अन्य पु. बहुवचन	हुते
सहायक क्रिया-रूप	(भविष्यत्कालिक)
उ.पु. एकवचन	हौं (जैहौं), गा, गी
उ.पु. बहुवचन	हैं (जैहैं), गे
म.पु. एकवचन	हौ (जैहौ), गा

म.पु. बहुवचन	हौ (जैहौ), गे
अन्य पु. एकवचन	है (जैहै), गा
अन्य पु. बहुवचन	हैं (जैहैं), गे

(ट) संयुक्त क्रिया-रूप—चलि आयौ, राखि लेहु, जात टरौ।

अव्यय

क्रियाविशेषण—इत-उत जित-तित कित, इहां, उहां, जद (यदा-जब) कद (कदा-कब) आगै, पाछै, ऊपरि, आजू, कालि (कल) कत (कहाँ) किन (क्यों नहीं)।

समुच्चयबोधक—अरु, औ, कै (अथवा), जदपि, तदपि, जौ (यदि)।

द्योतक—जन-जनि (मत), विनु (बिना), लौं—लगि (तक)।

निपात—+हूं—अजहूं (आज भी), अबहूं (अभी), कवहुं—कवहूं (कभी), हौं हू (मैं ही), काहू (कोई ही, किसी)।

शब्दकोशीय स्तर पर ब्रजभाषा तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव और देशज शब्दों की प्रचुर सम्पदा अपने भीतर संजोए है। मध्ययुगीन राजनैतिक और सामाजिक परिवेश के प्रभाव स्वरूप ब्रज को विभिन्न विदेशी (अरबी-फ़ारसी) शब्दों का भी अवदान प्राप्त है जिन्हें ब्रज ने अपनी प्रकृति के अनुकूल ढालकर अपनाया है—शमशीर > समसेर, वज़ीर > वजीर, शाह > साह, साहि, हुक्म > हुकम, फ़र्ज > फरज, ग़रीब > गरीब, ख़बर > खबरि, निवाज़ > नवाज इत्यादि।

मुगलकाल में कामकाजी हिन्दी का स्वरूप

'उर्दू' हिन्दी (खड़ी बोली, हिंदवी, हिंदुई) दोनों का व्याकरणिक ढाँचा एक ही है, केवल शब्दावली के स्रोत एवं स्तर कुछ भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त 'लिपि' की भिन्नता के कारण भी दोनों में कुछ अलगाव प्रतीत होता है। 'हिन्दी' लेखन में प्रायः 'देवनागरी' लिपि का तथा 'उर्दू'—लेखन में प्रायः 'फारसी' लिपि का प्रयोग प्रचलित है।

मूलतः 'उर्दू' तुर्की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—बाजार, लश्कर (सैन्यदल), छावनी (सैन्यशिविर), पड़ाव, किला (दुर्ग) जैसे—'काजी-ए-उर्दू'—छावनी का न्यायाधीश, 'उर्दू-ए-लश्कर'—लश्कर (सैन्यदल) का शिविर इत्यादि। जब (पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से) भारत पर मुगलों का शासन स्थापित हुआ और उन्होंने दिल्ली, आगरा को राजधानी बनाया तब 'उर्दू' शब्द का प्रयोग इस क्षेत्र में शुरू

हुआ। दिल्ली में लालकिला और जामा मस्जिद का आसपास का क्षेत्र अधिकतर फौजी छावनी (सैन्य-शिविर) का क्षेत्र था जिसमें रहने वाले सैनिक यहीं की जनपदीय बोली (जो खड़ी बोली ही थी) का प्रयोग करते थे। मुगल दरबारों में उसे 'जबान-ए-उर्दू' (अर्थात् फौजी लश्कर की भाषा) कहा जाता था। बहुत बड़ी छावनी (किले) में प्रचलित भाषा 'जबान-न-उर्दू-ए-मुअल्ला' (बड़े किले के श्रेष्ठ फौजियों की भाषा) कहलाती थी। यह नाम बहुत बड़ा होने के कारण धीरे-धीरे संक्षिप्त रूप लेता गया। पहले 'जबान-ए-उर्दू' कहा गया, फिर 'उर्दू की बोली' (छावनी की भाषा या फौजी बाजार की भाषा) नाम प्रचलित हुआ।

दिल्ली, गाजीपुर और गोरखपुर आदि के 'उर्दू बाजार' वास्तव में मुगल सैनिकों के लिए बने थे इसीलिए 'उर्दू बाजार' कहलाए। यहाँ की बोलचाल में जो सामान्य भाषा प्रयुक्त होती थी वह 'उर्दू की बोली' कहलाई और बाद में इसी का नाम केवल 'उर्दू' रूढ़ हो गया। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक जो भाषा हिंदुई, हिंदवी, हिंदी अथवा हिंदुस्तानी नाम से प्रचलित थी उसी का शाही, दरबारी, बाजारी अथवा फौजी संस्करण 'उर्दू' कहलाने लगा।

इसके प्रयोक्तावर्ग पर मुगल प्रभाव विशेष था। इसी को 'रेखता' भी कहा गया जिसका अर्थ था—गिरी हुई, पड़ी हुई आदि, क्योंकि साहित्यिक हिन्दी (ब्रज आदि) की अपेक्षा वह भाषा कुछ शिथिल, अपरिमार्जित एवं अरबी, फारसी, तुर्की शब्दावली से प्रभावित थी। चौदहवीं शताब्दी में खिलजी और बलबन शासकों का दक्षिण भारत के कर्नाटक, आन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात (ये सब आधुनिक नाम हैं) आदि पर आधिपत्य हो गया तो दिल्ली-मेरठ की लोक-बोली राजकीय कर्मचारियों, सैनिकों और सरकारी कामकाज के उपयोग में, सूफी सन्तों, दरवेशों के साथ दक्षिण में भी जा पहुँची। मध्य देश और उत्तर भारत की मूल हिन्दी से उसे अलगाने के लिए उसका नामकरण 'दक्षिणी हिन्दी' हो गया। मुगलों का शासन-प्रसार दक्षिण तक हो जाने पर यही 'रेख्ता' वहाँ (हैदराबाद) पहुँची तो 'दक्खिनी (दक्षिण की) हिन्दी' के नाम से प्रचलित हुई।

मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रँगीला के समकालीन कवि वली ने अपने समय के साहित्यकारों को 'फारसी' के स्थान पर 'रेख्ता' अपनाने की सलाह दी थी। (देखिए डॉ. हरदेव बाहरी-कृत 'परशियन इन्फ्लुएंस ऑन हिन्दी, पृ. 12)। उस समय तक 'उर्दू' शब्द का उल्लेख 'भाषा' के लिए कहीं नहीं मिलता। एक विशेष प्रकार की भाषा के अर्थ में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम खान आरजू ने ईशा की अठारहवीं

शताब्दी के मध्य में किया (खान आरजू 1755 ई. तक विद्यमान थे)। इससे पूर्व हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रसिद्ध कवि मीर तकी मीर (1712 ई.) और वली (जन्म 1668 ई. हैदराबाद दक्षिण में) की कविताओं को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन्हें आज 'उर्दू' का कवि कहा जा सकता है वे वास्तव में 'हिन्दी' के ही थे–

(क) क्या जानूँ लोग कहते हैं
किसको सरूरे कल्ब,
आया नहीं है लफ्ज यह
हिन्दी जबाँ के बीच। (मीर)

(ख) उल्टी हो गईं सब तदबीरें;
कुछ न दवा ने काम किया (मीर)

(ग) बेवफाई न कर, खुदा सूँ डर!
आरसी देखकर न हो मगरूर, खुदनुमाई न कर!
खुदा सूँ डर! (वली)

(घ) फिर मेरी खबर लेने को सैयाद न आया!
शायद कि उसे हाल मेरा याद न आया। (वली)

इससे पहले खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, नूर मुहम्मद आदि का हिन्दी-काव्य (क्रमशः खड़ी बोली और अवधी में रचित साहित्य) लोकप्रचलित हो चुका था। बाद में मीर, वली, दर्द और सोज की रचनाएँ भी उसी वर्ग की हैं। आधुनिक काल के प्रतिनिधि उर्दू-कवि हाली और इकबाल की भाषा भी 'हिन्दी' से बहुत दूर नहीं है। हाँ, अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी की इसी रेख्ता या उर्दू-शैली में अरबी-फारसी-तुर्की शब्दावली का अधिकाधिक समावेश होने लगा। हिन्दी छन्द-शास्त्र के स्थान पर फारसी छन्द-शास्त्र अपनाया गया। दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय, गेय पद आदि के स्थान पर गजल, कसीदा, मसनवी और मरसिया आदि काव्य-शैली को महत्त्व मिला।

इसमें देवनागरी लिपि की अपेक्षा फारसी लिपि अधिक प्रयुक्त होने लगी। उस समय की राजनीतिक और प्रशासनिक परिस्थितियों के कारण, इस प्रवृत्ति को और बल मिला। प्रकृति के भारतीय परिवेश के बजाय अरब और फारस का परिवेश साहित्य में चित्रित होने लगा। उपमान भी भारतीय न रहकर अरब-ईरान के हो गए ('कमल' के स्थान पर 'नरगिस' और 'भ्रमर' या 'कोकिल' के स्थान

पर 'बुलबुल')। हिन्दी के प्रेमी नायिका-नायक राधा-कृष्ण, दमयन्ती-नल उर्दू के फारसी-बहुल काव्य में लैला-मजनूँ और शीरी-फरहाद द्वारा स्थानान्तरित हुए। काशी-प्रयाग अथवा मथुरा-वृन्दावन के स्थान पर मक्का-मदीना तथा गंगा-यमुना के स्थान पर दजला-फराज का वर्णन होने लगा। वीर पराक्रमी नायकों में भी राम, अर्जुन, कर्ण आदि के बजाय रुस्तम-सोहराब को विशेष महत्त्व मिला। यहाँ तक कि भारतीय संध्या एवं रात्रि की छाया में बैठकर फारसी-प्रेमी उर्दू-कवि लिखने लगे—'हर शाम है शाने मिस्र यहाँ, हर शब है शबे शीराज यहाँ।' इस प्रवृत्ति को सौदा, इंशा, नासिख, अनीस, गालिब और दाग जैसे कवियों द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिला।

भारतीय पुनर्जागरण काल में खड़ी बोली हिन्दी

आधुनिक युग में हिन्दी भारत की राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतीक बन गई। इसका कारण है कि एक विदेशी भाषा (अँगरेज़ी) को वलपूर्वक और छलपूर्वक यहाँ प्रतिष्ठित करके, देशवासियों को जिस प्रकार दासता के जाल में जकड़ने का प्रयास किया गया उससे जागरूक लोकचेता मनीषियों का चौकन्ना होना स्वाभाविक था। इस सम्वन्ध में कथाशिल्पी, उपन्यास-सम्राट **मुंशी प्रेमचन्द** का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है–

"भारत की राष्ट्रीयता एक राष्ट्रभाषा पर निर्भर है। और दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी राष्ट्रभाषा का प्रचार करके राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा।"

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में हिन्दी : हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में आधुनिक युग का आरम्भ सन् 1850 ई. के आसपास से माना जाता है। यद्यपि इससे एक सौ वर्ष पहले से ही 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के रूप में अँगरेज़ विदेशियों ने अपने भाषायी कूटनीति का जाल फैलाना आरम्भ कर दिया तथापि अनेक वर्षों तक उनका यह षड्यन्त्र भारतीय जनता समझ नहीं पाई। इसका एक कारण यह भी था कि ब्रिटिश शासन ने भारत में अपने साम्राज्य की जड़ें मजबूत करने के लिए जो शिक्षा-नीति और भाषा-नीति अपनाई उसमें हिन्दी को भी प्रमुख स्थान प्राप्त था, क्योंकि उसके बिना वे भारतीय जनता पर शासन कर ही नहीं सकते थे। सन् 1800 ई. में कलकत्ता में जब फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना की गई तो उसमें हिन्दी (जिसे वे 'हिन्दुतानी' कहते थे) विभाग खोला गया। यहीं भारत की बहुप्रचलित कौरवी बोली को 'स्टैंडर्ड डायलेक्ट' (खड़ी बोली) 'हिन्दी' के रूप में विकसित होने का अवसर मिला। इसी कालिज की शिक्षा-नीति

के अन्तर्गत इस खड़ी बोली हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखवाई गईं। धीरे-धीरे हिन्दी का यह रूप देश-भर में, शिक्षा और साहित्य, बोलचाल और पत्र-व्यवहार, संवाद-संचार (समाचार-पत्र) आदि में विकसित और प्रचलित होता गया। सन् 1801 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने यह घोषणा की कि प्रशासनिक सेवा (सिविल सर्विस) में केवल उसी व्यक्ति को जिम्मेदारी के पद पर नियुक्त किया जाए जिसे गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए कानूनों को अमल में लाने के लिए हिन्दुस्तानी (अर्थात् खड़ी बोली हिन्दी) का भी ज्ञान हो। इसीलिए विलियम प्राइस, फ्रेडरिक जॉनशोर, बैलंटाइन, मैटकॉफ, फ्रेडरिक पिन्कॉट आदि ने हिन्दी सीखी। उल्लेखनीय है कि यह सब काम भारत के एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र (कलकत्ता) में हो रहा था, दिल्ली या मध्यप्रदेश के किसी इलाके में नहीं। स्पष्ट है कि आधुनिक काल की वास्तविक शुरुआत से पहले ही हिन्दी प्रकारान्तर से राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य हो चुकी थी। फोर्ट विलियम कालिज के प्रिंसिपल गिलक्रिस्ट से हिन्दी सीखकर, मैटकॉफ महोदय ने जब दिल्ली के 'असिस्टेंट रेजिडेंट' का पद सँभाला तो उन्होंने 29 अगस्त, 1806 ई. को अपने हिन्दी-शिक्षक के नाम जो पत्र लिखा वह उस समय हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का ज्वलन्त प्रमाण है–

"भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ों से नर्मदा तक, अफगानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में जहाँ मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी थी।...मैं कन्याकुमारी से काश्मीर तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं।" (जे.वी. गिलक्रिस्ट : 'ए वेकुबलरी हिन्दुस्तानी एंड इंगलिश, इंगलिश एंड हिन्दुस्तानी' से अवतरित) 'हिन्दुस्तानी' से यहाँ अभिप्राय सहज-सुबोध खड़ी बोली हिन्दी से है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी अँगरेज़ शासकों को समूचे भारत राष्ट्र में जिस भाषा का सर्वाधिक प्रयोग, प्रसार और प्रभाव दिखाई दिया वह हिन्दी (उनके शब्दों में हिन्दुस्तानी) थी।

पत्रकारिता का योगदान : आधुनिक युग में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में विधिवत प्रतिष्ठित कराने में हिन्दी पत्रकारिता का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 30 मार्च, सन् 1826 ई. को कलकत्ता से प्रारम्भ होनेवाले हिन्दी के सबसे पहले पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन का उद्देश्य ही यही था कि लोगों को परायी भाषा (अँगरेज़ी) से विरत करके अपनी भाषा (हिन्दी) की ओर उन्मुख किया जाए–

"यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज

तक जो अब तक किसी ने भी नहीं चलाया पर अँगरेज़ी ओ बंगाले में जो समाचार का काग़ज छपता है, उसका सुख उन वोलियों को जानने और पढ़नेवालों को ही होता है और सव लोग पराए सुख सुखी होते हैं जैसे पराए धन धनी होना।'' (प्रथम सम्पादकीय का एक अंश)

अँगरेज़ी को परायी भाषा मानकर, अपनी निजी भाषा हिन्दुस्तानी (अर्थात् सरल खड़ी बोली हिन्दी) में अखवार निकालने की यह तड़प वास्तव में राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में राष्ट्रभाषा (हिन्दी) के महत्त्व को ही स्वीकार करने की शुरुआत थी। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के कथनानुसार यह एक अद्भुत संयोग ही कहा जाएगा कि–

''जैसे उन्नीसवीं शताब्दी में वंगोत्पन्न भारतीय नेताओं ने देश को धार्मिक एवं जातीय एकता के विषय में सावधान किया, उसी प्रकार पहले पहल यह आवाज भी वंगाल से उठी कि भारतीय राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि के लिए अँगरेज़ी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को प्रतिष्ठित करना नितान्त आवश्यक है। और वह भाषा एकमात्र हिन्दी ही हो सकती है।'' (राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता)

बंगाल के ही एक समकालीन वरिष्ठ पत्रकार केशवचन्द्र सेन ने अपने समाचारपत्र में सन् 1857 ई. में यह लेख प्रकाशित किया–''हिन्दी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा वनने के योग्य है।'' इस लेख की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं–

''यदि भारतवर्ष के एक हुए विना भारत में एकता नहीं हो सकती तो उसका उपाय क्या है? उपाय है–भारत में एक ही भाषा का व्यवहार। अभी जितनी भाषाएँ भारत में प्रचलित हैं उनमें हिन्दी लगभग सभी जगह प्रचलित है। उस हिन्दी भाषा को अगर भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाए तो यह काम सहज ही और शीघ्र सम्पन्न हो सकता है।'' (डॉक्टर कृष्णविहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृष्ठ 282)

स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी : सन् 1857 ई. में भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम लड़ा गया। इसमें सर्वत्र हिन्दी ही माध्यम थी, अँगरेज़ी या फारसी नहीं। सभी क्रान्ति-समाचार, संवाद और सन्देश हिन्दी में प्रसारित किए गए थे। उस प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का मुखपत्र 'पयाम-ए-आजादी' (जिसका हिन्दी अर्थ है–स्वतन्त्रता-सन्देश) था जो दिल्ली से देवनागरी (हिन्दी) और फारसी (उर्दू)–दोनों लिपियों में निकलता था। प्रसिद्ध राष्ट्रभक्त और स्वतन्त्रता सेनानी अज़ीम-उल्ला खान इसके सम्पादक थे।

भारतेन्दु, दयानन्द और अन्य विचारक : सन् 1873 ई. में 'अपनी' भाषा अर्थात् राष्ट्र की जनता की भाषा को 'स्वदेशीपन' के साथ जोड़ते हुए आधुनिक युग के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह उद्घोष किया–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान कै; मिटै न हिय को सूल॥
प्रचलित करहु जहान मैं, निज भाषा करि जत्न।
राज-काज दरबार में, फैलावहु यह रत्न॥

इसी वर्ष, अर्थात् सन् 1873 ई. में गुजरात के प्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक और समाज-सुधारक विद्वान महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य-समाज' की स्थापना की और उसके दस नियमों के अन्तर्गत पाँचवाँ नियम यह बताया कि प्रत्येक आर्यसमाजी को हिन्दी पढ़ना अनिवार्य है। इससे धार्मिक एवं सामाजिक स्तर पर हिन्दी को समूचे राष्ट्र की जन-भाषा बनने में बहुत सहायता मिली।

सन् 1904 ई. में कलकत्ता के प्रमुख हिन्दी-पत्र 'भारत-मित्र' में, प्रसिद्ध बंगला कथाकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का एक लेख 'भारत की एकता' शीर्षक से छपा जिसमें उन्होंने कहा–

''अँगरेज़ी भाषा में चाहे जो हो लेकिन हिन्दी सीखे बिना नहीं चल सकता। हिन्दी भाषा में किताब और भाषण से भारत के अधिकांश का मंगल होगा। ...हिन्दी भाषा के सहारे जो लोग विभिन्न प्रदेशों में एकता कायम कर सकेंगे, वही वास्तव में 'भारत-बन्धु' के नाम से पुकारे जाएँगे।'' (भारत मित्र, 1904 ई.)

योगीराज़ अरविन्द के कथनानुसार भी राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता का एकमात्र आधार-सूत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी हो सकती थी–

''जिस दिन हम अखंड स्वरूप भारत-मूर्ति के दर्शन करेंगे...उस दिन यह बाधा तिरोहित हो जाएगी, भारत की एकता, स्वाधीनता और उन्नति सहज साध्य हो जाएगी, उस दिन भाषा-भेद के कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए आधारिक भाषा के रूप में हिन्दी भाषा को ग्रहण करेंगे और वह बाधा दूर हो जाएगी।'' (धर्म और जातीयता, पृ. 94)

स्पष्ट है कि हिन्दी-क्षेत्र से बाहर के प्रदेशों के अधिकांश विद्वान और विचारक भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा में संलग्न थे। इसी सन्दर्भ में, गुजरात के बड़ौदा-नरेश, बंगाल के रमेशचन्द्र दत्त तथा महाराष्ट्र के डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल

भंडारकर महोदय ने मिलकर सन् 1909 ई. में बड़ौदा में एक महत्त्वपूर्ण आयोजन किया जिसमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य कराने का संकल्प व्यक्त किया गया।

स्वाधीनता आन्दोलन और महात्मा गांधी : धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर पर तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के अनेक उल्लेखनीय प्रयास बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हुए ही, राजनैतिक स्तर पर इस दिशा में सबसे अधिक योगदान मिला भारत के स्वाधीनता आन्दोलन से जिसके सूत्रधार थे महात्मा गांधी। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और उच्चशिक्षा उन्होंने अँगरेज़ी के माध्यम से प्राप्त की। भारत के राजनैतिक मंच पर उनका अभ्युदय सन् 1916 ई. के आसपास हुआ। इससे पहले वे हिन्दी अच्छी तरह नहीं जानते थे, कुछ-कुछ समझ सकते थे। तब उन्होंने स्वाध्याय के बल पर हिन्दी का समृद्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया। सन् 1916-17 ई. में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में वे पहली बार एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभरे और तभी से उन्होंने एक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करना अपने समूचे स्वदेशी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय कार्यक्रम का अभिन्न अंग बना लिया। 1916 ई. में ही उन्होंने अधिवेशन का सारा कार्य हिन्दी में चलाने का शुभारम्भ कराया। यहाँ तक कि अधिवेशन के अध्यक्ष लोकमान्य तिलक से भी उन्होंने हिन्दी में भाषण देने का आग्रह किया। श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा इस पर तनिक असहमति का भाव दिखाने पर गांधी जी ने स्पष्ट कहा—

"कांग्रेस का करीब-करीब सारा ही काम अँगरेज़ी में चलाने में राष्ट्र को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है।...इन तमाम वर्षों में लम्बे समय में कांग्रेस दिखाने भर को राष्ट्रीय रही है। लोक-शिक्षा की सच्ची कसौटी पर उसे कसें, उसकी कीमत कूतें तो कहना होगा कि वह कभी राष्ट्रीय नहीं थी।" (यंग इंडिया, 20 जनवरी, 1920 ई.)

गांधीजी की इस भावना को श्रेष्ठ मराठी विद्वान और अँगरेज़ी के ओजस्वी वक्ता लोकमान्य तिलक ने सच्चे हृदय से स्वीकार किया। कलकत्ता से लौटते हुए, कानपुर में उन्होंने (सन् 1917 ई. में) एक सार्वजनिक सभा में कहा—"यद्यपि मैं उन लोगों में से हूँ जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, किन्तु मैं हिन्दी समझ सकता हूँ और टूटी-फूटी बोल भी सकता हूँ...पर व्याख्यान नहीं कर सकता।" (सरस्वती, फरवरी, 1920 ई.) इससे पहले, दिसम्बर 1916 ई. में लखनऊ में गांधी के निर्देश पर हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्रीय दर्जा देने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ, उसके समर्थकों में श्री रामस्वामी अय्यर तथा श्री रंगस्वामी आयंगर जैसे दक्षिण भारतीय प्रतिनिधि अग्रणी थे।

सन् 1918 ई. में, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत की अँगरेज़ी सरकार द्वारा गठित युद्ध-परिषद (War Council) में जब गांधीजी को भी आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने पहली शर्त यह रखी कि **'मुझे हिन्दी में बोलने की इजाजत दी जाए।'** और तत्कालीन अँगरेज़ वाइसराय को उनकी शर्त स्वीकार करनी पड़ी। सन् 1939 ई. में जब भारत के कई प्रदेशों में कांग्रेस की निर्वाचित सरकारों का गठन हुआ तो मद्रास के तत्कालीन मुख्यमन्त्री (जो स्वाधीनता के बाद सन् 1947 ई. में भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने) श्री राजगोपालाचारी ने मद्रात प्रान्त (वर्तमान तमिलनाडु) के सभी विद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण अनिवार्य कर दिया। उस समय महात्मा गांधी ने अन्य राज्यों को भी इस नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा देते हुए लिखा– **''अगर हमें अखिल भारतीय राष्ट्रीयता प्राप्त करनी है तो प्रान्तीय आवरण को भेदना ही पड़ेगा।...जो लोग यह मानते हैं कि भारत एक देश है उन्हें राजा (राजगोपालाचारी) जी का समर्थन करना ही चाहिए।''** (हरिजन-सेवक, 10 सितम्बर, 1939 ई.)

इस प्रकार अन्य भी अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में बड़ी तेज़ी से विकास हुआ। स्वाधीनता आन्दोलन का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करनेवाले असंख्य नेताओं, क्रान्तिकारियों, बलिदानी वीरों, लेखकों, कवियों और पत्रकारों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में भरपूर योगदान किया। इन सब प्रयत्नों के पीछे गांधीजी का यही संकल्प था–

''अगर यह स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निरक्षर बाहनों व दलितों व अन्त्यजों का हो और इन सबके लिए हिन्दी एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।'' (यंग इंडिया, जून 1931 ई.)

महात्मा गांधी ने 'मेरे सपनों का भारत' नामक पुस्तक में जहाँ अपने अन्य अनेक अनमोल और प्रेरक विचार प्रस्तुत किए हैं, वहीं राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में भी बार-बार आग्रह किया है। उदाहरणतया–

(क) ''लाखों लोगों को जबर्दस्ती अँगरेज़ी का ज्ञान कराना उन्हें गुलाम बनाना है। मैकाले ने भारत में जिस शिक्षा की नींव रखी उसने हम सबको गुलाम बना दिया है।''

(ख) ''आप और हम चाहते हैं कि करोड़ों भारतीय आपस में अन्तःप्रान्तीय सम्पर्क कायम करें। स्पष्ट है कि अँगरेज़ी के द्वारा, कई पीढ़ियाँ गुज़र जाने पर भी हम परस्पर सम्पर्क स्थापित न कर सकेंगे।'' (मेरे सपनों का भारत)

इसी दृष्टिकोण को साकार करने के लिए महात्मा गांधी ने देश के स्वाधीन

होते ही समकालीन जन-प्रतिनिधियों को सचेत करते हुए कहा–

"हिन्दी को राष्ट्रभाषा करने में एक दिन भी खोना देश को भारी सांस्कृतिक नुकसान पहुँचाना है।...जिस तरह हमारी आजादी जवर्दस्ती छीननेवाले अँगरेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया; उसी तरह हमारी संस्कृति को दवानेवाली अँगरेज़ी भाषा को भी यहाँ से निकाल वाहर करना चाहिए।"

स्वतन्त्र भारत के प्रथम **प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू** का यह कथन भी महात्मा गांधी के उस मत की पुष्टि करता है–**"अँगरेज़ी निश्चय ही एक थोपी हुई भाषा है। इसने हमारे लिए ज्ञान-विज्ञान की खिड़कियाँ जरूर खोलीं और हमें बहुत कुछ ज्ञान दिया भी, पर इस पर एक ऐसी भाषा होने का लांछन भी है जो हमारी अपनी भाषाओं और हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के ऊपर जमकर बैठ गई है।"**

स्पष्ट है कि सन् 1947 ई. तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ राजभाषा का दर्जा प्राप्त करने में भी सक्षम हो चुकी थी। तब तक 'राष्ट्रभाषा' और 'राजभाषा' का अभिप्राय एक ही था। बाद में जव भारत की संविधान सभा में इस पर विधिवत् विचार-विमर्श हुआ तो मान लिया गया कि राष्ट्रभाषा के रूप में तो हिन्दी पहले से ही प्रतिष्ठित है, अव इसे वैधानिक रूप से राजभाषा का भी दर्जा दिया जाना चाहिए।

ईसाई धर्म प्रचारक तथा अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं का हिन्दी प्रसार में योगदान

ईसाई धर्म प्रचारक और हिन्दी–ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और आर्थिक बदलाव के सन्दर्भ में नई शिक्षा प्रणाली द्वारा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत नए आयाम खुले। भारतीय परम्परागत ज्ञान के स्थान पर पश्चिम का सर्वजन सुलभ और विविध ज्ञान-विज्ञान इस देश की जनता को प्राप्त होने लगा। हिन्दू और मुसलमानों की कट्टर धर्म प्रचार की नीति के स्थान पर ईसाई धर्म प्रचारकों ने नई तरह से ईसाई धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। सन् 1758 ई. में **डेनिस मिशन कलकत्ता** आया और सन् 1793 ई. में **कैरे और अन्य दो सहयोगियों** के साथ मिशनरियों का दूसरा दल कलकत्ता पहुँचा। सन् 1813 ई. में कम्पनी ने एक नए चार्टर को स्वीकृति प्रदान की। इसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गई।

इस चार्टर के बाद आने वाले मिशनरियों में अलेक्ज़ेंडर डफ़ का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन सबका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार था इसलिए उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मों की निन्दा करने में भी संकोच नहीं किया।

फिर भी सच्चाई यह है कि ईसाई धर्म प्रचारकों के काम के बहाने ही भारतीय भाषाओं के गद्य-शैली प्राप्त हुई। हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में गद्य बिल्कुल आरम्भिक स्थिति में ही था। इसलिए कैरे, ब्राउन, नेवलिन, स्किनर बैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। स्कूलों के लिए उन्हें पाठ्य पुस्तकें भी लिखनी पड़ी। भारतीय धर्म, पुराण और स्त्री-शिक्षा के प्रसार में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस प्रकार इन मिशनरियों के द्वारा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को एक नया रूप, रंग और गद्य-शैली के विकास का अवसर मिला जो आगे चलकर सँवरे हुए गद्य और हिन्दी भाषा-संस्कार की पृष्ठभूमि बना।

फोर्ट विलियम कॉलेज

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रशासनिक सुविधा के लिए सन् 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित किया। इसमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी के प्राध्यापक गिलक्रिस्ट थे। उर्दू के लिए अलग शिक्षक थे। और भाषा या हिन्दीवी के लिए लल्लू जी लाल और सदल मिश्र की नियुक्ति हुई।

लल्लू जी लाल ने सबसे पहले खड़ी बोली शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने 'प्रेम सागर' नामक ग्रन्थ में और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' में इस शब्द का उल्लेख मिलता है। इस कॉलेज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में बहुत योगदान किया। यह बात अलग है कि इसकी हिन्दी पर ब्रज अवधी और भोजपुरी का प्रभाव अधिक रहा।

गिलक्रिस्ट साहब से हिन्दी सीखकर मैटकॉफ महोदय ने जब दिल्ली के 'असिस्टैंट रेजिडेंट' का पद सम्भाला तो उन्होंने 29 अगस्त, 1806 ई. को अपने हिन्दी-शिक्षक के नाम लिखे पत्र से पता चलता है कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार का प्रयास अपना असर दिखाने लगा था—"भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ों से नर्मदा तक अफगानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी है।

इस कॉलेज के अध्यापकों ने देशभाषा (हिन्दी) में पाठ्य पुस्तकें, कोश और

व्याकरण तैयार करने का काम किया। इस कॉलेज के द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्य-लेखन को प्रोत्साहन मिला। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना से अँग्रेज विद्वान यहाँ की भाषाओं में रुचि लेने लगे।

भारत में **ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज** और **थियॉसौफ़िक सोसाइटी** की मान्यताओं ने भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा दिलाया।

राजा राममोहन राय ने सन् 1828 में आधुनिक भारत की नींव रखते हुए 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की। उन्हें अरबी और फारसी का बहुत ज्ञान था। गीता, उपनिषद् और ईसाई धर्म आदि सभी की विशेषताओं को अपने भीतर सँजोकर उन्होंने नई और बौद्धिक तर्क प्रधान विचारधारा प्रस्तुत की। इसमें अन्धविश्वास, कर्मकांड, मूर्तिपूजा तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध करके भारतीय जनमानस को शिक्षित किया।

इसी प्रकार केशवचन्द्र सेन ने सन् 1867 में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के बाद उनके शिष्य विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके एकता, वंधुत्व, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय गौरव का प्रसार किया। इसके बाद गुजरात के प्रसिद्ध दार्शनिक और समाज सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की और प्रत्येक आर्य समाजी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य बताया। इससे धार्मिक और सामाजिक स्तर पर हिन्दी को पूरे राष्ट्र की जनभाषा बनने में सहायता मिली।

सन् 1904 ई. में कलकत्ता के प्रमुख हिन्दी-पत्र 'भारतमित्र' में प्रसिद्ध बंगला कथाकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का एक लेख छपा था–'भारत की एकता'। इसमें उन्होंने लिखा था–**''अँग्रेजी भाषा में चाहे जो हो लेकिन हिन्दी सीखे बिना नहीं चल सकता। हिन्दी भाषा में किताब और भाषण से भारत के अधिकांश का मंगल होगा...हिन्दी भाषा के सहारे जो लोग विभिन्न प्रदेशों में एकता कायम कर सकेंगे, वही वास्तव में 'भारत-बन्धु' के नाम से पुकारे जाएँगे।''**

सन् 1875 में 'थियॉसौफिकल सोसाइटी' की स्थापना न्यूयार्क में हुई थी। इस संस्था की इंग्लैंड शाखा से सम्बन्ध रखने वाली श्रीमती एनी वेसेंट सन् 1893 में भारत आईं और सोसाइटी के द्वारा भारतीय धार्मिक परम्परा के प्रचार-प्रसार के काम में जुट गईं। उन्होंने सारे देश का दौरा किया और हिन्दु धर्म की आध्यात्मिकता के पक्ष में प्रभावशाली भाषण दिए। बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज जैसे अनेक शिक्षा संस्थाएँ भी खोलीं। इसके द्वारा भी हिन्दी, संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं को प्रचार-प्रसार का अवसर मिला।

महात्मा गांधी

धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर पर तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के अनेक उल्लेखनीय प्रयास बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हुए ही, राजनैतिक सतर पर इस दिशा में सबसे अधिक योगदान मिला भारत के स्वाधीनता आन्दोलन से जिसके सूत्रधार थे महात्मा गांधी। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और उच्चशिक्षा उन्होंने अँग्रेज़ी के माध्यम से प्राप्त की। भारत के राजनैतिक मंच पर उनका अभ्युदय सन् 1916 ई. के आसपास हुआ। इससे पहले वे हिन्दी अच्छी तरह नहीं जानते थे, कुछ-कुछ समझ सकते थे। तब उन्होंने स्वाध्याय के बल पर हिन्दी का समृद्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया। सन् 1916-17 ई. में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में वे पहली बार एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभरे और तभी से उन्होंने एक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करना अपने समूचे स्वदेशी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय कार्यक्रम का अभिन्न अंग बना लिया। 1916 ई. में ही उन्होंने अधिवेशन का सारा कार्य हिन्दी में चलाने का शुभारम्भ कराया। यहाँ तक कि अधिवेशन के अध्यक्ष लोकमान्य तिलक से भी उन्होंने हिन्दी में भाषण देने का आग्रह किया। श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा इस पर तनिक असहमति का भाव दिखाने पर गांधी जी ने स्पष्ट कहा–

"कांग्रेस का करीब-करीब सारा ही काम अँग्रेज़ी में चलाने में राष्ट्र को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है।...इन तमाम वर्षों में लम्बे समय में कांग्रेस दिखाने भर को राष्ट्रीय रही है। लोक-शिक्षा की सच्ची कसौटी पर उसे कसें, उसकी कीमत कूतें तो कहना होगा कि वह कभी राष्ट्रीय नहीं थी।" (यंग इंडिया, 20 जनवरी, 1920 ई.)

गांधीजी की इस भावना को श्रेष्ठ मराठी विद्वान और अँग्रेज़ी के ओजस्वी वक्ता लोकमान्य तिलक ने सच्चे हृदय से स्वीकार किया। कलकत्ता से लौटते हुए, कानपुर में उन्होंने (सन् 1917 ई. में) एक सार्वजनिक सभा में कहा–"यद्यपि मैं उन लोगों में से हूँ जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि **हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है**, किन्तु मैं हिन्दी समझ सकता हूँ और टूटी-फूटी बोल भी सकता हूँ...पर व्याख्यान नहीं कर सकता।" (सरस्वती, फरवरी, 1920 ई.) इससे पहले, दिसम्बर 1916 ई. में लखनऊ में गांधीजी के निर्देश पर हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्रीय दर्जा देने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ, उसके समर्थकों में श्री रामस्वामी अय्यर तथा श्री रंगस्वामी आयंगर जैसे दक्षिण भारतीय प्रतिनिधि अग्रणी थे।

सन् 1918 ई. में, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत की अँग्रेज़ी सरकार द्वारा

गठित युद्ध-परिषद (War Council) में जब गांधीजी को भी आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने पहली शर्त यह रखी कि **'मुझे हिन्दी में बोलने की इजाजत दी जाए।'** और तत्कालीन अँग्रेज़ वाइसराय को उनकी यह शर्त स्वीकार करनी पड़ी। सन् 1939 ई. में जब भारत के कई प्रदेशों में कांग्रेस की निर्वाचित सरकारों का गठन हुआ तो मद्रास के तत्कालीन मुख्यमन्त्री (जो स्वाधीनता के बाद सन् 1947 ई. में भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने) **श्री राजगोपालाचारी ने मद्रास प्रान्त** (वर्तमान तमिलनाडु) के सभी विद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण अनिवार्य कर दिया। उस समय महात्मा गांधी ने अन्य राज्यों को भी इस नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा देते हुए लिखा–"अगर **हमें अखिल भारतीय राष्ट्रीयता प्राप्त करनी है तो प्रान्तीय आवरण को भेदना ही पड़ेगा।...जो लोग यह मानते हैं कि भारत एक देश है उन्हें राजा (राजगोपालाचारी) जी का समर्थन करना ही चाहिए।**" (हरिजन-सेवक, 10 सितम्बर, 1939 ई.)

इस प्रकार अन्य भी अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में बड़ी तेज़ी से विकास हुआ। स्वाधीनता आन्दोलन का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करनेवाले असंख्य नेताओं, क्रान्तिकारियों, बलिदानी वीरों, लेखकों, कवियों और पत्रकारों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में भरपूर योगदान किया। इन सब प्रयत्नों के पीछे गांधीजी का यही संकल्प था–

"अगर यह स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निरक्षर बहनों व दलितों व अंत्यजों का हो और इन सबके लिए हिन्दी एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।" (यंग इण्डिया, जून 1931 ई.)

महात्मा गांधी ने 'मेरे सपनों का भारत' नामक पुस्तक में जहाँ अपने अन्य अनेक अनमोल और प्रेरक विचार प्रस्तुत किए हैं, वहीं राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में भी बार-बार आग्रह किया है। उदाहरणतया–

(क) "लाखों लोगों को जबर्दस्ती अँग्रेज़ी का ज्ञान कराना उन्हें गुलाम बनाना है। मैकाले ने भारत में जिस शिक्षा की नींव रखी उसने हम सबको गुलाम बना दिया है।"

(ख) "आप और हम चाहते हैं कि करोड़ों भारतीय आपस में अन्तःप्रांतीय सम्पर्क कायम करें। स्पष्ट है कि अँग्रेज़ी के द्वारा। कई पीढ़ियाँ गुज़र जाने पर भी हम परस्पर सम्पर्क स्थापित न कर सकेंगे।" (मेरे सपनों का भारत)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् 1877 ई. में 'हिन्दी वर्द्धिनी सभा' के मंच से अपना पद्यबद्ध भाषण देते हुए, हिन्दी-लेखकों को विविध विषयों, विधाओं, कलाओं आदि

से सम्बन्धित मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करने का आह्वान किया। उनका सूत्र वाक्य था–

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल,
बिन निज भाषा ज्ञान कै, मिटै न हिय को सूल।''

उन्होंने अपने साथ-साथ अपने मंडल के अन्य रचनाकारों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखवाएँ। अनेक नए तकनीकी शब्द हिन्दी को प्रदान किए।

इसके बाद भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं और बुद्धिजीवियों ने यह बात एकमत होकर स्वीकार की कि ''हिन्दी पत्रकारिता के विकास की कहानी वस्तुतः राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास की ही कहानी है।'' बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में दिग्गज हिन्दी पत्रकारों–बालकृष्ण भट्ट, बाबूराव विष्णु पराड़कर, गणेश शंकर विद्यार्थी, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, बालमुकुंद गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि ने हिन्दी में हजारों तकनीकी शब्दों का समावेश करके उन्हें सामान्य जनता में प्रचलित किया। आज प्रयुक्त हो रहे विज्ञान, तकनीक, कला और संस्कृति के क्षेत्र से जुड़े असंख्य शब्द उन्हीं की देन हैं। सभी बुद्धिजीवियों और राष्ट्र नेताओं ने जब राष्ट्रीय स्वाधीनता और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा को भारतवासियों का एकमात्र पावन लक्ष्य घोषित किया तो हिन्दी तेजी से प्रगतिपरक ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनने की ओर अग्रसर हुई। **नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आर्य समाज, हिन्दी सम्वर्द्धिनी सभा,** दक्षिण **भारत हिन्दी प्रचार सभा आदि विभिन्न राष्ट्रीय संस्थाओं एवं अन्य प्रांतीय और स्थानीय भाषा-संस्कृति-सेवी संस्थानों ने विविध विषयक ज्ञान-विज्ञान की असंख्य पुस्तकें हिन्दी में तैयार कराईं।** अनेक निजी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों और महाविद्यालयों में कुछ अनुप्रयुक्त विज्ञानों का प्रारम्भिक शिक्षण भी हिन्दी के माध्यम से होने लगा। सन् 1913 ई. में प्रयाग (इलाहाबाद) में **'विज्ञान परिषद्'** नामक संस्थान की स्थापना हुई। हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की हर जानकारी को जन-साधारण तक पहुँचाना इस परिषद का प्रमुख उद्देश्य था। इसके लिए परिषद की ओर से **'विज्ञान'** नामक मासिक पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ। पिछले लगभग नौ दशकों में, इस पत्र में विज्ञान की विविध शाखाओं से सम्बन्धित सैकड़ों लेख छपे जो वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के रूप में हिन्दी की ऊर्जावान क्षमता के जीवन्त प्रमाण हैं। यह सब कुछ उस महान अवसर की तैयारी के लिए था जब देश के स्वाधीन होने पर हिन्दी राजकीय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बने तो उसमें किसी भी विषय में शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर पर कठिनाई न हो।

आखिर, 15 अगस्त, 1947 ई. को देश आज़ाद हुआ। स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही देश में राष्ट्रीय स्वाभिमान की जो लहर चली तो सर्वत्र हिन्दी में इस प्रकार के वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों की सामग्री भी तैयार करने का काम शुरू हुआ। विहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान आदि राज्यों में विद्यालय तथा महाविद्यालय स्तर पर प्रायः सभी विषयों का शिक्षण हिन्दी के माध्यम से दिए जाने का सूत्रपात हुआ। इन राज्यों की अदालतों में तो बहुत पहले से ही हिन्दी-प्रयोग को मान्यता मिल जाने के कारण हिन्दी की विधि-शब्दावली स्वतः तैयार हो रही थी—यद्यपि अनुप्रयोग के स्तर पर फ़ारसी के अनेक शब्द भी उसमें रच-बस गए थे। स्वतन्त्र भारत के संविधान में, काफ़ी ऊहापोह के बावजूद सर्वसम्मति से जब (देवनागरी में लिपिबद्ध) हिन्दी को राजभाषा मान लिया गया तो वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में उसके विकास का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो गया; परन्तु काश ऐसा हो पाता! विडम्बना यह रही कि कुछ प्रभावशाली उच्चवर्गीय अँग्रेज़ीदां मनीषियों के निहित क्षणिक स्वार्थों के राहु ने प्रगतिपरक विकास के क्षितिज पर उदित होते सूर्य को ग्रस लिया।

इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान आदि विषयों का पठन-पाठन तो कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी में प्रारम्भ हो गया, लेकिन देश की सर्वतोमुखी उन्नति एवं रोज़गार के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध कराने में सहायक विज्ञान, इंजीनियरी, चिकित्साशास्त्र और संचार-प्रौद्योगिकी आदि विषयों के शिक्षण-प्रशिक्षण का सिलसिला स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले की तरह अँग्रेज़ी के माध्यम से चलते रहने की वकालत की जाती रही। उज्ज्वल भविष्य के सपनों में खोयी उदीयमान पीढ़ी को अँग्रेज़ी का दामन थामने में ही आशा की किरण दिखाई दी। परिणामस्वरूप वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा का पद पाने की होड़ में हिन्दी पिछड़ने लगी। इस प्रकार एक विचित्र द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो गई। एक ओर संवैधानिक मान्यता के अनुकूल हिन्दी में विभिन्न वैज्ञानिक प्रयुक्तियों और तकनीकी शब्दों के निर्माण की महत्त्वाकांक्षी महती योजनाएँ तथा दूसरी ओर व्यावहारिक अनुप्रयोग के क्षेत्र में उसे निरन्तर अपदस्थ करने की स्वार्थमयी प्रवृत्तियाँ। अन्ततोगत्वा जीत तो ज़मीनी सच्चाई की होती है और होगी भी—इस तथ्य को हिन्दी उत्तरोत्तर उजागर करने में प्रवृत्त है।

हिन्दी को वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में विकसित करने तथा पूर्णतया सक्षम बनाने वाले अग्रणी महानुभावों में **आचार्य रघुवीर** का नाम विशेषतया स्मरणीय है। 'आधुनिक युग के पाणिनी' के नाम से विभूषित आचार्य रघुवीर ने वीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही यह भांप लिया था कि देश जब भी स्वाधीन

हुआ, हिन्दी के राजकीय भाषा और शिक्षण के माध्यम के रूप में मान्य होते ही उसके सामने वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली की विकट समस्या अवश्य उपस्थित होगी। उन्होंने बिना किसी सरकारी या गैरसरकारी सहायता या प्रोत्साहन के निजी स्तर पर ही यह कार्य आरम्भ कर दिया था और आज़ादी के बाद जब राजकीय तन्त्र द्वारा अभी समितियाँ, आयोग, निदेशालय, संस्थान आदि गठित करके इस दिशा में कुछ करने की भूमिका ही बांधी जा रही थी तब तक आचार्य रघुवीर पाँच लाख पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दों का निर्माण कर चुके थे। उनकी शब्द-निर्माण की पद्धति बड़ी सटीक और सार्थक थी। किसी भी वैज्ञानिक संकल्पना के संवाहक एक शब्द के, उपसर्ग और प्रत्यय के योग से अनेक शब्द बनाकर वे एक पूरा शब्द-परिवार निर्मित कर लेते थे। उदाहरणतया विधि (लॉ Law) से विधिवत : Lawful, वैध : Legal, अवैध : Illegal, विधान : Legislation, विधायी : Legislative, विधायक : Legislator, विधेय : Legislatable, विधिहीन : Lawless इत्यादि। वे किसी वैज्ञानिक या पारिभाषिक संकल्पना के प्रतीक-रूप शब्द का चयन संस्कृत से करके, संस्कृत के ही उपसर्गों और प्रत्ययों की सहायता से उस संकल्पना से सम्बन्धित अन्य अभीष्ट शब्दावली तैयार करने के पक्ष में थे। उन्होंने हिन्दी में अँग्रेज़ी के विभिन्न शब्दों के यथावत अनुवाद की बजाय, उनकी मूल संकल्पना एवं तथ्यात्मक अर्थवत्ता के आधार पर हर अँग्रेज़ी शब्द के लिए हिन्दी 'प्रतिशब्द' प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति अपनाई। शब्द-निर्माण और शब्द-चयन का आधार संस्कृत को ही बनाने का पक्ष वे इसलिए लेते थे क्योंकि संस्कृत अधिकांश भारतीय भाषाओं की ही नहीं, अपितु संसार की भी अनेक भाषाओं की जननी है। उसमें पाँच सौ धातुएँ हैं, केवल बीस उपसर्ग और अस्सी प्रत्यय हैं। इनसे लाखों-करोड़ों शब्दों की संरचना की जा सकती है। अँग्रेज़ी के हज़ारों शब्दों की वर्तनी याद रखने में लगने वाली हमारी ऊर्जा की तुलना में हम बहुत थोड़े समय में ही संस्कृत को आधार बनाकर स्वतः शब्द-निर्माण की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, अर्थवत्ता की जैसी पारदर्शिता हिन्दी में है वैसी संसार की अन्य किसी भी भाषा में नहीं। उदाहरणतया 'कंज़र्वेशन', 'प्रिज़र्वेशन', 'रिज़र्वेशन' और 'मेन्टेनेंस' चार शब्दों का एक परिवार है। हिन्दी में इनके लिए क्रमशः संरक्षण, परिरक्षण, आरक्षण और अनुरक्षण नामक प्रतिशब्द निर्धारित हैं जो परस्पर सम्बद्ध होकर भी सूक्ष्म अर्थ-भेद के संवाहक हैं।

इस प्रकार, आचार्य रघुवीर का दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक और वैज्ञानिक तो था ही, भारतीय युवा-मानस के लिए स्वाभिमान और सुगमता का भी द्योतक था। अँग्रेज़ी टेलि Tele के लिए हिन्दी का प्रतिशब्द 'दूर' अपनाकर दूरभाष, दूरदर्शन, दूरबीन,

दूरसंचार, दूरमुद्रक इत्यादि जो शब्द बनाए गए वे आज सर्वत्र आम व्यवहार का अंग बन चुके हैं। अँग्रेज़ी का 'रिएक्शन' भौतिकी और रसायन शास्त्र दोनों में तकनीकी शब्द है। दोनों विज्ञान-शाखाओं के अध्येता इनका अधिकतर अभिप्राय आवश्यकतानुसार लगाते हैं। हिन्दी में इसका आम अर्थ है—'प्रतिक्रिया' जो भौतिकी में सटीक है, रसायन शास्त्र में नहीं। उसके लिए 'अभिक्रिया' शब्द निर्धारित किया गया है जो पूर्णतया संगत है।

कुछ-भी हो, मूल लक्ष्य तो यही है कि हिन्दी को वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में अधिकाधिक समृद्ध बनाया जाए। इसके लिए यदि कोई एक पद्धति सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हो पाती तो अन्यान्य पद्धतियाँ अपनाए जाने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए। इसलिए, आज हिन्दी में वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों के निर्माण के सन्दर्भ में तीन मुख्य विचारधाराओं को अपनाने वाले तीन वर्ग हैं—

(1) पूर्णतया संस्कृत को आधार बनाने के पक्षधर।

(2) अँग्रेज़ी शब्दावली को यथावत अपनाकर, केवल उसका नागरी लिप्यन्तरण करने के पक्षधर (जैसे—लीगल, इल्लीगल, कोर्ट, कैमिस्टरी आदि।)

(3) 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर उर्दू और उर्दू के नाम पर फ़ारसी की शब्दावली की बहुलता के साथ विभिन्न जनपदीय बोलियों की शब्दावली अपनाने के पक्षधर।

इन तीनों वर्गों के दृष्टिकोण किसी-न-किसी स्तर पर संगत एवं उपयोगी हैं। पहले वर्ग का अनुमोदन तो भारतीय संविधान का अनुच्छेद 351 भी करता है जिसमें **'मुख्यतया संस्कृत से और गौणतया अन्य भारतीय भाषाओं से'** सहायता लेकर हिन्दी को समृद्ध बनाने की बात कही गई है। इसमें तीसरे वर्ग का 'बोलियों' वाला पक्ष भी स्वतः आ जाता है।

दूसरे वर्ग का दृष्टिकोण भी कुछ विशेष स्थितियों में अपनाया जाना संगत है क्योंकि आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति का उत्स मुख्यतः यूरोपीय देश हैं और वहाँ इसकी अभिव्यंजक शब्दावली अधिकतर अँग्रेज़ी में तैयार हो रही है; अतः ऐसी पूर्णतया नव-आविष्कृत शब्दावली के पर्याय गढ़ने के लिए कृत्रिमता या क्लिष्टता का सहारा लेने की बजाय उसे नागरी में लिप्यंतरित करके हिन्दी-व्याकरण के अनुसार ढालकर ग्रहण कर लिया जाए। उदाहरणतया रडार, पेट्रोल, ओज़ोन, प्रोटीन, ग्राम, कैलोरी, आदि असंख्य शब्द ज्यों-के-त्यों हिन्दी में रच-बस चुके हैं। नागरी लिपि और वर्त्तनी के सांचे में ढलकर ये अजनबी नहीं लगते।

'कम्प्यूटर' के लिए 'संगणक' प्रतिशब्द न भी लिया जाए और 'कम्प्यूटर' शब्द ही अपनाया जाए तो भी 'कम्प्यूटराइज़ेशन' की बजाय 'कम्प्यूटरीकरण' जैसे

शब्द अपनाए जाएँ। 'आइजेशन' के लिए 'इकरण' प्रत्यय हिन्दी में सर्वसाधारण के लिए बहुत जाना-पहचाना बन चुका है—राष्ट्रीकरण (नैशनलाईज़ेशन) भू-मंडलीकरण (ग्लोबलाइज़ेशन), शहरीकरण इत्यादि शब्द खूब चल रहे हैं। इसी प्रकार 'कार्बन' में संस्कृत का प्रत्यय लगाकर 'कार्बनिक' कार्बन-रहित तत्त्व के लिए 'अकार्बनिक' शब्द की संरचना उल्लेखनीय है।

तीसर वर्ग द्वारा विभिन्न जनपदीय बोलियों से अभीष्ट शब्द ग्रहण करने की दलील तो बहुत वाजिब है, 'एक्नॉलिजमेंट' के लिए 'पावती' शब्द आंचलिक बोली से ही गृहीत हैं, किन्तु हिन्दी की ही एक सहज शैली उर्दू के नाम पर हिन्दी के फारसीकरण की प्रवृत्ति असंगत है। वर्ग या समुदाय के लिए 'फ़िरका' शब्द अपनाना मूल संकल्पना से बाहर जाना होगा। हाँ, जिला, अदालत जैसे लोक-प्रचलित शब्द यदि कहीं तकनीकी हिन्दी का अंश बनते हैं तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अदालती जाँच, जिलाधीश, ज़िलाप्रशासन आदि शब्द चल ही रहे हैं। पं. नेहरू तथा पं. सुन्दर लाल आदि महानुभाव तीसरे वर्ग के विशेष पक्षधर थे। विधि की जगह वे 'कानून' शब्द ही अपनाने के हिमायती थे। 'कानूनी सलाह', 'गैर कानूनी', 'कानून-गो' जैसे कुछ गिने-चुने शब्द तो संगत हैं, परन्तु 'विधि' की मूल संकल्पना पर आधारित समूची विधायिका और न्यायपालिका से सम्बन्धित जितने अधिक और सटीक-सार्थक प्रतिशब्द 'विधि' में कुछ उपसर्ग-प्रत्यय जोड़कर बनाये जा सकते हैं उतने 'कानून' शब्द से बनने सम्भव नहीं हैं। इसी प्रकार, 'डिसिप्लन' (Discipline) के लिए 'कायदादारी', 'लेजिस्लेचर' (Legislature) के लिए 'कानूनकारी', 'लिट्रेचर' (Literature) के लिए 'अदब' (जिसका फारसी में एक अर्थ 'शिष्टता' या 'शालीनता' भी है), 'चेयरमैन' (Chairman) के लिए 'मसनदी' और 'कम्यूनिकेशन' (Communication) के लिए 'आवाजाई' जैसे शब्दों के प्रयोग का सुझाव किसी-भी दृष्टि से व्यावहारिक नहीं हो सकता था—मूल संकल्पना और अर्थवत्ता के सुचारू संवहन की दृष्टि से तो बिल्कुल नहीं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि हिन्दी को वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में समृद्ध बनाने के लिए एक समन्वित दृष्टिकोण अपेक्षित है जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है—

(1) प्रधानतया संस्कृत अथवा हिन्दी में विद्यमान परम्परागत (तत्सम या तद्भव) शब्दावली का उपयोग, इसमें उच्चारण-सुविधा, सुबोधता और संक्षिप्तता का विशेष ध्यान रखा जाए।

(2) इससे पूर्ण अभीष्ट सिद्धि न होने पर भारत की अन्य भाषाओं से तत्सम्बन्धी उपयोगी, सहज-सुबोध शब्दों का चयन।

(3) विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र की सर्वथा नवीन खोजों के लिए निर्धारित अँग्रेज़ी शब्दावली का यथावत प्रयोग (कम-से-कम तव तक, जब तक हिन्दी में उसके लिए निर्मित कोई उपयुक्त समतुल्य पर्याय या प्रतिशब्द आम प्रयोग में भली-भाँति प्रचलित न हो जाए।)

इन तीनों प्रवृत्तियों का समन्वय संगत है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग तथा इस कार्य में प्रवृत्त अन्य अनेक संस्थाओं द्वारा प्रायः इसी समन्वित दृष्टिकोण की प्रवृत्ति अपनाई जा रही है। इससे, बिना किसी विवाद के हिन्दी की वैज्ञानिक और तकनीकी ऊर्जा का संवर्द्धन हो रहा है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हिन्दी को वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में विकसित करने के प्रयास बहुत पहले से ही शुरू हो गए थे। संस्कृत के 'अमर कोश' और 'सर्वसंग्रह' की परम्परा के अनेक कोश विभिन्न स्तरों पर तैयार हुए। मध्ययुग में, महाराजा शिवाजी के शासन-काल में पंडित रघुनाथ नामक विद्वान ने प्रशासन, खाद्य सामग्री, रक्षा-व्यवस्था आदि विषयों से सम्बन्धित लगभग डेढ़ हज़ार शब्दों का एक कोश तैयार किया था जो तत्कालीन प्रशासन के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् 1845 ई. में, लन्दन से प्रोफेसर डेकन कोर्स द्वारा प्रणीत 'हिन्दी मैनुअल' के दो भाग प्रकाशित हुए। सन् 1848 ई. में उन्हीं का 'हिन्दी-अँग्रेज़ी-हिन्दी कोश' छपा। हिन्दी की प्रशासनिक शब्दावली की ओर सर्वप्रथम ध्यान देने वाले विद्वान एच. एच.विल्सन ने इस सम्बन्ध में सन् 1855 ई. में 'ग्लॉसरी ऑफ जूडीशियल एंड रेवेन्यू टर्म्स (विधि एवं राजस्व सम्बन्धी शब्दावली) नामक ग्रन्थ लन्दन से प्रकाशित किया। सन् 1868 ई. में फ्रेडरिक पिन्कॉट नामक हिन्दी-प्रेमी विद्वान ब्रिटिश सरकार से यह नियम बनवाने में सफल रहे कि **भारत जाने वाले प्रत्येक अँग्रेज़ (अधिकारी और कर्मचारी) के लिए हिन्दी की परीक्षा उत्तीर्ण करना अनिवार्य होगा।** दस वर्ष पश्चात् (सन् 1878 में) ग्रिफिथ महोदय ने यह घोषणा की कि 'भारत की मुख्य भाषा हिन्दी है।' इसी दौरान केलॉग महोदय ने **हिन्दी का बृहद् व्याकरण** प्रस्तुत करते हुए कहा—"भारतीय आर्यभाषाओं में महत्त्व की दृष्टि से हिन्दी का स्थान पहला है। यदि कोई भविष्य बताने का साहस करे तो वह यह भी कह सकता है कि भविष्य में उत्तर भारत की जो भाषा राजकाज या साहित्य की भाषा बनेगी वह यही (हिन्दी) होगी।" 12 अगस्त, सन् 1881 ई. में, इंडिया आफिस लन्दन से सिविल सर्विसिज के सेक्रेटरी (प्रशासनिक सेवा-सचिव) को भेजे गए आदेश में हिन्दुस्तानी को सम्पूर्ण भारत में मान्य बनाने की व्यवस्था का ब्यौरा दिया गया। इस बीच, बिहार में सन् 1880 में यह कठोर आदेश जारी हुआ—**पहली जनवरी, 1881 से प्रान्त की अदालती**

भाषा केवल नागरी लिपि में लिखित हिन्दी होगी। यही आदेश मध्य प्रदेश में सन् 1881 में तथा उत्तर प्रदेश में सन् 1900 ई. में लागू हुआ।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में जिन बुद्धिजीवियों और राष्ट्र नेताओं का अथक-योगदान रहा है उनमें बाबू राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, काका कालेलकर, पुरुषोत्तमदास टण्डन, मदनमोहन मालवीय, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि भी प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी को समूचे भारत को एक सूत्र में बाँधने वाली भाषा के रूप में स्थापित किया महत्त्वपूर्ण सच्चाई यह भी है कि भारत की अन्य भाषाओं के साथ भी उसी प्रकार सम्मानजनक दृष्टिकोण रखते हुए हिन्दी को अधिकतर जनता के बोलचाल की भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की। इस प्रकार पूरे देश की भाषा होने की यात्रा में इस भाषा को अनेक पड़ावों से गुजरना पड़ा।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जिन संस्थाओं की चर्चा पहले की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त अनेक संस्थाओं ने भी अपना-अपना भरसक योगदान दिया। वाराणसी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा', इलाहाबाद का 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन', 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा', 'हिन्दी सम्वर्द्धिनी सभा' आदि राष्ट्रीय और प्रांतीय भाषा और संस्कृति के सेवा करने वाली संस्थाओं का योगदान भी कम नहीं है। इनके द्वारा अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। इन हिन्दी पुस्तकों में विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें भी शामिल थीं। हिन्दी के शब्दकोश तैयार करवाए गए। इनसे जुड़े विद्वानों ने जगह-जगह भाषण देकर हिन्दी की गतिशील और राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान कराई। नई-नई शब्दावली और प्रयुक्तियों की खोज और प्रसार के द्वारा भी हिन्दी की शक्ति का आधुनिक और बदला हुआ रूप स्थापित किया। दक्षिण भारत में हिन्दी सीखने, पढ़ने-पढ़ाने और संस्कृति के प्रचार का काम भी इन संस्थाओं ने बखूबी निभाया।

एक बार और ध्यान देने की है, वह यह कि जिस हिन्दी गद्य का पहले-पहल विकास हुआ उसमें जिन चार प्रमुख गद्यकारों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, वे हैं—सदासुखराय, इंशाअल्ला खाँ, सदलमिश्र और लल्लूजी लाल। हिन्दी के विद्वान श्याम सुन्दर दास ने भाषागत विशेषताओं के आधार पर इंशा अल्ला खाँ को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। इसी क्रम में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी गद्य की तीन कसौटियों की चर्चा की है—(क) बोलचाल की शिष्टभाषा, (ख) व्यावहारिकता (ग) तर्क प्रधान वाक्य संरचना। इस आधार पर शुक्ल जी ने सबसे पहले सदासुख राय को और उनके बाद सदल मिश्र को महत्त्व दिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी की विकास-यात्रा में अनेक पड़ाव आये। बहुत

से देशी और विदेशी, हिन्दी और अहिंदी भाषी विद्वानों, बुद्धिजीवियों राष्ट्रनेताओं और संस्थानों, सभाओं और संगठनों के साथ-साथ धर्म और समाज सुधारकों ने भी यथोचित योगदान दिया है। इसी का सद् परिणाम है कि यह भाषा आज तक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना स्थान बनाए हुए हैं।

संविधान में राजभाषा हिन्दी अधिनियम

राजभाषा : तात्पर्य और स्वरूप

भारत की स्वाधीनता (15 अगस्त, 1947 ई.) से पहले, हिन्दी में 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। सबसे पहले सन् 1949 ई. में भारत के महान् नेता श्री राजगोपालाचारी ने भारतीय संविधान सभा में 'नेशनल लैंग्वेज' (National Language) के समान्तर 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से किया कि 'राष्ट्रभाषा' (National Language) और 'राजभाषा' (State Language) में अन्तर रहे और दोनों के स्वरूप को अलगाने वाली विभेदक रेखा को समझा जा सके। संविधान सभा की कार्रवाई के हिन्दी-प्रारूप में 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) का हिन्दी अनुवाद 'राजभाषा' किया गया और इस प्रकार पहली बार यह शब्द प्रयोग में आया। बाद में संविधान का प्रारूप तैयार करते समय, 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) के स्थान पर 'ऑफिशियल लैंग्वेज' (Official Language) शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा गया और 'ऑफिशियल लैंग्वेज' का हिन्दी-अनुवाद 'राजभाषा' ही किया गया। ('सरकारी' या 'कार्यालयी' भाषा नहीं।) इसी परिप्रेक्ष्य में, 'राजभाषा' शब्द का तात्पर्य है–

(क) राजा (शासक) अथवा राज्य (सरकार) द्वारा प्राधिकृत भाषा।

भारतीय लोकतन्त्र में शासक या सरकार का गठन संविधान की प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है, अतः दूसरे शब्दों में 'राजभाषा' का तात्पर्य है–

(ख) संविधान द्वारा सरकारी कामकाज, प्रशासन, संसद और विधान-मंडलों तथा न्यायिक कार्यकलाप के लिए स्वीकृत भाषा।

'राजभाषा' के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए 'राष्ट्रभाषा' शब्द के व्यापक अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। 'राष्ट्रभाषा' का अभिप्राय है–(क) राष्ट्र की भाषा अथवा (ख) समूचे राष्ट्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा। इस दृष्टि से, भारत में प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाली सभी भाषाएँ 'राष्ट्रभाषा' कहलाने की अधिकारिणी हैं। (इन प्रमुख भारतीय भाषाओं का उल्लेख भारतीय संविधान के अनुच्छेद 344

(1) और 351 के सन्दर्भ में, आठवीं अनुसूची (Schedule VIII) के अन्तर्गत किया गया है। मूल संविधान में, इस अनुसूची में चौदह भाषाएँ दर्ज थीं। बाद में हुए संशोधनों के आधार पर अब अनुसूची में अठारह भाषाएँ शामिल हैं। इनका पूरा विवरण आगे, उचित स्थान पर दिया गया है।) यदि किसी एक भाषा (उदाहरणतया 'हिन्दी') को संविधान में 'राष्ट्रभाषा' 'नेशनल लैंग्वेज' (National Language) के रूप में मान्यता दी जाती तो भारत की अन्य समृद्ध भाषाएँ उपेक्षित रह जातीं। सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं का अपना गौरवपूर्ण इतिहास और समृद्ध साहित्य भंडार है। इसलिए अपने-अपने प्रदेश और क्षेत्र में ये सभी भाषाएँ राष्ट्र के समग्र स्वरूप का समन्वित अंग हैं। किन्तु सभी क्षेत्रों या प्रदेशों (राज्यों) की अपनी भाषाओं का अस्तित्व और महत्त्व स्वीकार करते हुए भी समूचे राष्ट्र में पारस्परिक सम्पर्क, आदान-प्रदान, विचार-विमर्श, संचार-संवाद और राष्ट्रीय (अखिल भारतीय) स्तर पर पत्राचार आदि के लिए किसी एक सम्पर्क भाषा का होना आवश्यक है। इसके लिए भारत के सभी अग्रणी विचारक, शिक्षाविद् और राजनीतिज्ञ हिन्दी को ही भारत की एकमात्र सर्वसक्षम भाषा मानते रहे हैं। सन् 1937 ई. में जब भारत में पहली बार आम चुनावों के आधार पर सरकारें गठित हुईं तब **'एक अखिल भारतीय भाषा'** की आवश्यकता पर बल देते हुए, भारत के अग्रणी नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था–

''हर प्रान्त की सरकारी भाषा राज्य में कामकाज के लिए उस प्रान्त की भाषा होनी चाहिए। परन्तु हर जगह, अखिल भारतीय भाषा होने के नाते हिन्दुस्तानी को सरकारी तौर पर माना जाना चाहिए। अखिल भारतीय भाषा कोई हो सकती है तो वह सिर्फ हिन्दी या हिन्दुस्तानी कुछ भी कह लीजिए यही हो सकती है।''

इस प्रकार 'राजभाषा' का अभिप्राय है–**अखिल भारतीय स्तर पर राजकीय कामकाज के लिए माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने वाली भाषा।**

'राजभाषा' की उपर्युक्त अवधारणा के आधार पर उसे 'राष्ट्रभाषा' से अलग मानकर, उसके स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त है।

राजभाषा के रूप में हिन्दी : संवैधानिक स्थिति

प्रस्तावना–भारतीय संविधाम के भाग 5, 6 और 17 में राजभाषा-सम्बन्धी उपबन्ध हैं। भाग 17 का शीर्षक **'राजभाषा'** है। इस भाग में चार अध्याय हैं जो क्रमशः संघ की भाषा, प्रादेशिक भाषाएँ, उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों आदि की भाषा तथा विशेष निर्देश से सम्बन्धित हैं। ये चारों अध्याय अनुच्छेद 343 से 351

के अन्तर्गत समाहित हैं। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 120 में संसद एवं विधानमंडलों की भाषा के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है।

संविधान में 'राजभाषा' का अभिप्राय–भारतीय संविधान में कहीं भी 'राजभाषा' शब्द की कोई परिभाषा या व्याख्या नहीं दी गई। इसका प्रारम्भिक उल्लेख अनुच्छेद 343 (1) में इस प्रकार हुआ है–''संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।''

इसके उपरान्त, संविधान में जहाँ-जहाँ भी 'राजभाषा' शब्द का उल्लेख 'संघ की राजभाषा' या 'राज्यों की राजभाषाओं' के सन्दर्भ में हुआ है वहाँ उसके अनेक प्रयोजनों में एक प्रयोजन 'प्रशासकीय प्रयोजन' बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संविधान में 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में 'प्रशासकीय प्रयोजन' के लिए हुआ है। किन्तु अनुच्छेद-351 में हिन्दी के प्रसार और विकास के सम्बन्ध में अनेक निर्देश समाविष्ट हैं। उन निर्देशों से यह बात स्पष्ट झलकती है कि संविधान-निर्माताओं के मन में एक ऐसी सार्वदेशिक (राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय) हिन्दी के विकास की संकल्पना निहित थी जो राष्ट्र के अधिसंख्यक समुदाय के पारस्परिक संपर्क-संचार और शैक्षणिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रयोजनों के अतिरिक्त अन्य (प्रशासकीय एवं वैधानिक) प्रयोजनों को भी सिद्ध करने में सक्षम हो। इससे स्पष्ट है कि अनुच्छेद 351 में प्रयुक्त शब्द 'हिन्दी भाषा' का अभिप्राय केवल 'राजभाषा' हिन्दी तथा सीमित न होकर 'राष्ट्रभाषा' और सार्वदेशिक 'सम्पर्क भाषा' तक व्याप्त है। उल्लेखनीय है कि इसी अनुच्छेद 351 में हिन्दी भाषा के विकास का लक्ष्य भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकने वाली भाषा जैसी क्षमता प्राप्त कर लेना बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि संविधान में 'राजभाषा' शब्द के प्रयोग के अन्तर्गत राष्ट्रभाषा हिन्दी, सम्पर्क भाषा हिन्दी और भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यंजना कर सकने वाली भाषा हिन्दी का अभिप्राय विद्यमान है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में भारतीय संविधान के अन्तर्गत **हिन्दी को राजभाषा घोषित करने वाले प्रस्ताव पेश करनेवाले दक्षिण भारतीय नेता और विद्वान श्री गोपालस्वामी आयंगर** तथा गुजरात के श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा प्रस्तुत किए गए फार्मूल के रूप में हुआ। **'मुंशी-आयंगर फार्मूला'** के नाम से प्रसिद्ध इस प्रस्ताव के मसौदे में कहा गया–

"हमारी मूल नीति यह होनी चाहिए कि संघ के कामकाज के लिए हिन्दी देश की सामान्य भाषा हो और देवनागरी सामान्य लिपि हो। मूल नीति का यह भी एक मुद्दा है कि सभी संघीय प्रयोजनों के लिए वे अंक काम में लाए जाएँ जिन्हें भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप कहा गया है।"[1]

14 सितम्बर, 1949 को जब संविधान सभा में 'राजभाषा' सम्बन्धी भाग स्वीकृत हुआ तो संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद (जो 26 जनवरी, 1950 ई. को स्वतन्त्र भारत का नया संविधान लागू होने पर सन् 1952 ई. में भारत के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए) ने कहा–

"आज पहली बार हम अपने संविधान में एक भाषा स्वीकार कर रहे हैं जो भारत के संघ के प्रशासन की भाषा होगी और जिसे समय के अनुसार अपने-आपको ढालना और विकसित करना होगा। हमने अपने देश का राजनीतिक एकीकरण सम्पन्न किया है। राजभाषा हिन्दी देश की एकता को कश्मीर से कन्याकुमारी तक अधिक सुदृढ़ बना सकेगी। अँगरेज़ी की जगह भारतीय भाषा को स्थापित करने से हम निश्चय ही और भी एक-दूसरे के निकट आएँगे।"

राजभाषा-सम्बन्धी अनुच्छेद, नियम, अधिनियम आदि : भारतीय संविधान में राजभाषा-सम्बन्धी प्रमुख प्रावधानों एवं उपबन्धों को चार वर्गों में बाँटकर समझा जा सकता है–

1. संसद में प्रयुक्त होने वाली भाषा।
2. विधान-मंडलों में प्रयुक्त होने वाली भाषा।
3. संघ की राजभाषा।
4. विधि-निर्माण और न्यायालयों में प्रयुक्त होने वाली भाषा।

1. संसद में प्रयुक्त होने वाली भाषा : भाग-5, अनुच्छेद-120 (1) में कहा गया है–"भाग-17 में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनुच्छेद-348 के अधीन, संसद में कार्य हिन्दी में या अँग्रेज़ी में किया जाएगा।"

आगे कहा गया है–"यदि कोई व्यक्ति हिन्दी में या अंग्रेज़ी में विचार प्रकट करने में असमर्थ है तो लोकसभा का अध्यक्ष या राज्यसभा का सभापति उसे अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है।"

1. भारतीय अंक हैं–१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०
इनका अन्तर्राष्ट्रीय रूप है–1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10

अनुच्छेद-120 (2) में यह उपबन्ध है—"जब तक संसद विधि द्वारा कोई और उपबन्ध न करे, तब तक संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् 'या अँग्रेज़ी में' वाला अंश नहीं रहेगा।" (अर्थात् 26 जनवरी, 1965 ई. से संसद का कार्य केवल हिन्दी में होगा।)

2. विधान-मंडल में प्रयुक्त होनेवाली भाषा : भाग-6, अनुच्छेद 210 (1) में कहा गया है—"भाग-17 में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनुच्छेद-348 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, राज्य के विधान-मंडल में कार्य राज्य की राजभाषा या भाषाओं में या हिन्दी में या अँग्रेज़ी में किया जाएगा।"

आगे कहा गया है कि विधानसभा का अध्यक्ष या विधान-परिषद का सभापति ऐसे किसी सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है जो उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में भी विचार प्रकट नहीं कर सकता।

अनुच्छेद-210 (2) में कहा गया है—"जब तक विधान-मंडल विधि द्वारा कोई और उपबन्ध न करे, तब तक इस संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद 'या अँग्रेज़ी में' वाला अंश नहीं रहेगा।" (अर्थात् 26 जनवरी, 1965 ई. से विधान-मंडल का कार्य राज्य की राजभाषा/भाषाओं या हिन्दी में ही होगा।)

इसी अनुच्छेद में आगे हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय और त्रिपुरा में 'पन्द्रह वर्ष' के स्थान पर 'पच्चीस वर्ष' की छूट अँग्रेज़ी-प्रयोग के लिए दी गई है।

3. संघ की राजभाषा : भाग-17, अनुच्छेद 343 (1) में कहा गया है—"संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।"

अनुच्छेद-343 (2)—"खंड (1) में किसी बात के होते हुए भी, इस संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेज़ी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा, जिनके लिए उसका प्रयोग किया जा रहा था।"

इस सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि राष्ट्रपति उक्त अवधि (26 जनवरी, 1950 से 25 जनवरी, 1965 तक) के दौरान अपने आदेश से संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए किसी के लिए अँग्रेज़ी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा का और भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के अतिरिक्त देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे।

अनुच्छेद-343 (3) में कहा गया है—"इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी, संसद उक्त पन्द्रह वर्ष की अवधि के पश्चात् विधि द्वारा—(क) अँग्रेज़ी

भाषा का, या (ख) अंकों के देवनागरी रूप का ऐसा प्रयोजनों के लिए प्रयोग का उपबन्ध कर सकेगी जो ऐसी विधि में बताए जाएँ।

राजभाषा के लिए आयोग और संसद की समिति : अनुच्छेद-344 (1) में कहा गया है—"राष्ट्रपति, इस संविधान के प्रारम्भ से पाँच वर्ष की समाप्ति पर (अर्थात् 26 जनवरी, 1955 ई. को) और तत्पश्चात् प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर, आदेश द्वारा, एक आयोग का गठन करेंगे। इस आयोग में एक अध्यक्ष तथा आठवीं अनुसूची में बताई गई विभिन्न भाषाओं (इनका विवरण आगे अलग से दिया गया है) का प्रतिनिधित्व करनेवाले ऐसे अन्य प्रतिनिधि होंगे जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा। राष्ट्रपति के इस आदेश में आयोग द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया भी निर्दिष्ट की जाएगी।

अनुच्छेद-344 (2) में उपर्युक्त आयोग के पाँच कर्तव्य बताए गए हैं—(क) संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा के अधिकाधिक प्रयोग की सिफारिश, (ख) संघ के सभी या किसी शासकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेज़ी भाषा के प्रयोग पर निर्बंधनों की सिफारिश, (ग) अनुच्छेद-348 में उल्लिखित सभी या किन्हीं प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जानेवाली भाषा की सिफारिश, (घ) संघ के किसी एक या अधिक विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों के रूप की सिफारिश, (ङ) संघ की राजभाषा तथा संघ और किसी राज्य के बीच या एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच पत्रादि की भाषा और उनके प्रयोग के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय में सिफारिश।

अनुच्छेद-344 (3) में उपर्युक्त आयोग के लिए यह कहा गया है कि "आयोग अनुच्छेद-344 (2) के अधीन अपनी सिफारिशें करते समय भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक प्रगति का और लोक-सेवाओं के सम्बन्ध में अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के व्यक्तियों के न्यायसंगत दावों और हितों का सम्यक् ध्यान रखेगा।"

अनुच्छेद-344 (4) में राजभाषा सम्बन्धी संसदीय समिति के गठन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—इसमें कुल तीस सदस्य होंगे, जिनमें से बीस लोकसभा के और दस राज्यसभा के सदस्य होंगे। इन सदस्यों का निर्वाचन क्रमशः लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाएगा।

अनुच्छेद-344 (5) में उपर्युक्त संसदीय समिति का कर्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"समिति अनुच्छेद-344 (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों की जाँच करके उस पर अपनी राय राष्ट्रपति को देगी।"

अनुच्छेद-344 (6) में कहा गया है–"अनुच्छेद-343 में किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति अनुच्छेद-344 (5) के अधीन समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् इस सारी रिपोर्ट या उसके किसी भाग के अनुसार आदेश जारी कर सकेंगे।"

राज्य की राजभाषा या राजभाषाएँ : संविधान के अनुच्छेद-345 में कहा गया है–"किसी राज्य का विधान-मंडल अनुच्छेद-346 और अनुच्छेद 347 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, विधि द्वारा उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिन्दी को, उस राज्य के सभी या किन्हीं प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जानेवाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगा।"

इसी अनुच्छेद-345 में आगे कहा गया है–"परन्तु जब तक राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा कोई अन्य उपबन्ध न करे तब तक राज्य के भीतर उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेज़ी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए वह इस संविधान से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।"

एक राज्य और दूसरे के बीच, अथवा राज्य और संघ के बीच संचार के लिए राजभाषा : संविधान के अनुच्छेद-346 में कहा गया है–"संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने हेतु जो भाषा उस समय प्राधिकृत होगी, वही एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच और किसी राज्य तथा संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा होगी।"

आगे कहा गया है–"परन्तु, दो या अधिक राज्य यह करार करते हैं कि उन राज्यों के बीच पत्रादि की राजभाषा हिन्दी भाषा होगी तो ऐसे पत्रादि के लिए उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा।"

किसी राज्य के जनसमुदाय के किसी भाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध : संविधान के अनुच्छेद-347 में कहा गया है–"यदि किसी राज्य के जनसमुदाय का कोई भाग अपने द्वारा बोली जानेवाली भाषा के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध की माँग करता है और राष्ट्रपति को तसल्ली हो जाती है कि वह माँग संगत है तो राष्ट्रपति या निर्देश कर सकते हैं कि ऐसी भाषा को भी राज्य के सर्वत्र या उसके किसी भाग में एक आयोजन के लिए, जिसे वे विनिर्दिष्ट करें, शासकीय मान्यता दी जाए।"

4. उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों आदि की भाषा : संविधान के भाग-17 उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों तथा अधिनियमों, विधेयकों आदि में प्रयोग की जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में अनुच्छेद-348 उल्लेखनीय है।

अनुच्छेद-348 (1) में कहा गया है–जब तक संसद विधि द्वारा कोई और उपबन्ध न करे, तब तक नीचे बताई गई कार्रवाइयों के प्राधिकृत पाठ अँग्रेज़ी में होंगे–

(क) उच्चतम न्यायालयों और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्रवाइयाँ;

(ख) 1. संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान-मंडल के सदन या प्रत्येक सदन में प्रस्तुत किए जानेवाले सभी विधेयक या उनके प्रस्तावित संशोधन;

2. संसद या किसी राज्य के विधान-मंडल द्वारा पारित सभी अधिनियम और राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा जारी किए गए अध्यादेश;

3. इस संविधान के अधीन अथवा संसद या किसी राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन जारी किए गए सभी आदेश, नियम, विनियम और उपविधियाँ।

अनुच्छेद-348 (2) में, किसी राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से, सम्बद्ध राज्य के उच्च न्यायालय की कार्रवाइयों में हिन्दी भाषा या उस राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जानेवाली किसी अन्य भाषा के प्रयोग को प्राधिकृत करने का अधिकार दिया गया है। परन्तु यह वात सम्बद्ध उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय, डिक्री या आदेश पर लागू नहीं होगी। (उदाहरणतः हरियाणा या उत्तर प्रदेश के राज्यपाल उच्च न्यायलय में हिन्दी भाषा के प्रयोग को तो प्राधिकृत कर सकते हैं किन्तु न्यायाधीश अपना फैसला हिन्दी में सुनाने पर बाध्य नहीं होंगे।)

अनुच्छेद-348 (3) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी राज्य के विधान-मंडल में प्रस्तुत विधेयकों तथा उनसे सम्बन्धित संशोधनों में यदि राज्यपाल की अनुमति से अँग्रेज़ी भाषा के अलावा किसी अन्य भापा के प्रयोग की अनुमति है तो उसका अँग्रेज़ी प्राधिकृत पाठ वही माना जाएगा जो राज्यपाल के प्राधिकार से प्रकाशित अँग्रेज़ी भापा में अनुवाद किया गया हो।

अनुच्छेद-349 में कहा गया है–"इस संविधान के प्रारम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि के दौरान, अनुच्छेद-348 (1) में उल्लिखित किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग की जानेवाली भाषा-सम्बन्धी कोई विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के विना संसद के किसी सदन में प्रस्तुत नहीं किया जा सकेगा।"

यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि "राष्ट्रपति इस सम्वन्ध में अपनी पूर्व अनुमति तभी देंगे जब वे संविधान के अनुच्छेद-344 (1) के अधीन गठित आयोग तथा अनुच्छेद-344 (4) के अधीन गठित संसदीय समिति की रिपोर्ट पर विचार कर लेंगे।

अनुच्छेद-350 में शिकायतों को दूर करने के लिए दी जानेवाली अर्ज़ी में प्रयोग की जानेवाली भाषा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ऐसी अर्जी संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भी भाषा में (जैसी स्थिति हो) दी जा सकेगी।

हिन्दी भाषा के विकास के लिए विशेष निर्देश : संविधान के अनुच्छेद-351 में कहा गया है–"संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी के और आठवीं अनुसूची में बताई गई भारत की अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।"

आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भारतीय भाषाएँ

संविधान के **अनुच्छेद-344** (1) और **अनुच्छेद-355** में आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारतीय भाषाओं का सन्दर्भ आया है। इस (आठवीं) अनुसूची में, पहले केवल चौदह भाषाएँ शामिल की गई थीं। बाद में संशोधन द्वारा इनमें 'सिन्धी' को जोड़ने से यह संख्या पन्द्रह हो गई। अगस्त 1992 में एक अन्य संशोधन द्वारा आठवीं अनुसूची में तीन अन्य भाषाएँ जोड़ दी गईं–कोंकणी, नेपाली और मणिपुरी। इस प्रकार, अब (सन् 1993 तक) संविधान की आठवीं अनुसूची में निम्नलिखित अठारह भारतीय भाषाएँ सम्मिलित हैं।

(1) असमिया, (2) उड़िया, (3) उर्दू, (4) कश्मीरी; (5) कन्नड़, (6) कोंकणी, (7) गुजराती, (8) तमिल, (9) तेलुगु, (10) नेपाली, (11) पंजाबी, (12) बंगला, (13) मणिपुरी, (14) मराठी, (15) मलयालम, (16) संस्कृत, (17) सिन्धी, (18) हिन्दी।

महत्त्वपूर्ण संशोधन

राजभाषा-सम्बन्धी उपर्युक्त अनुच्छेदों में दो महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए। सन् 1956 में एक तो अनुच्छेद-350 (क) जोड़ा गया जिसके द्वारा प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराने के उपबन्ध है। दूसरे, 350 (ख) जोड़कर भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रपति द्वारा विशेष अधिकारी नियुक्त करने का प्रावधन किया गया। इस विशेष अधिकारी के कर्तव्य का निर्देश करते हुए

अनुच्छेद-350 (ख)-2 में कहा गया है—यह अधिकारी संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए उपबन्धित रक्षोपायों से सम्बन्धित सभी विषयों की छानबीन करके, राष्ट्रपति को रिपोर्ट करेगा। राष्ट्रपति ऐसी सभी रिपोर्टों को संसद के प्रत्येक सदन के सामने रखवाएँगे तथा सम्बन्धित राज्यों की सरकारों को भिजवाएँगे।

राष्ट्रपति द्वारा राजभाषा सम्बन्धी जारी प्रमुख आदेश

(1) 27 मई, 1952 ई. को राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद-343 (2) के अन्तर्गत दी गई शक्तियों का उपयोग करते हुए पहला आदेश जारी किया गया जिसमें राज्यपालों, उच्च न्यायालय के न्यायधीशों तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के नियुक्ति पत्रों में अँग्रेज़ी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी के तथा अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के अतिरिक्त देवनागरी के अंकों के प्रयोग को प्राधिकृत किया गया।

(2) सन् 1955 ई. में राष्ट्रपति द्वारा एक अन्य आदेश जारी किया गया जिसमें संघ के निम्नलिखित सरकारी प्रयोजनों के लिए अँग्रेज़ी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी के प्रयोग को प्राधिकृत किया गया—

(1) जनता के साथ पत्र-व्यवहार, (2) प्रशासनिक रिपोर्ट, सरकारी पत्रिकाएँ एवं संसद में पेश की जानेवाली रिपोर्टें, (3) सरकारी संकल्प और विधायी अधिनियम, (4) हिन्दी को राजभाषा के रूप में मान्यता देने वाली राज्य सरकारों से पत्र-व्यवहार, (5) संधियाँ और उनके करार, (6) अन्य देशों की सरकारों, उनके दूतों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ पत्र-व्यवहार, (7) राजनयिक एवं कौंसलीय पदाधिकारियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भारतीय प्रतिनिधियों के नाम जारी किए जाने वाले औपचारिक दस्तावेज।

राजभाषा आयोग का गठन

राष्ट्रपति ने 7 जून, 1955 ई. को अनुच्छेद-344 (1) के अनुसरण में, राजभाषा आयोग के गठन का आदेश जारी किया। इसके अध्यक्ष श्री बी.जी. खेर थे तथा इसमें, संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीस अन्य सदस्य शामिल थे। इस आयोग ने अपनी 76 बैठकों में राजभाषा के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित मामलों की छानबीन की। 1930 व्यक्तियों की गवाहियाँ ली गईं। अन्त में, सन् 1956 ई. में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रस्तुत कर दी।

राजभाषा सम्बन्धी संसदीय समिति का गठन

संविधान के **अनुच्छेद-344** (4) और **अनुच्छेद-344** (5) के अनुसरण में राष्ट्रपति द्वारा राजभाषा सम्बन्धी संसदीय समिति के गठन का आदेश सन् 1956 ई. में जारी किया गया। इसमें तीस सदस्य थे जिनमें बीस लोकसभा के और दस राज्यसभा के सांसद थे। पं. गोविन्दवल्लभ पन्त इस समिति के अध्यक्ष बनाए गए। इस समिति का काम उपर्युक्त राजभाषा आयोग की सिफारिशों की जाँच करना था। समिति ने अपनी 26 बैठकों में आयोग की रिपोर्ट पर विचार किया और 8 फरवरी, सन् 1959 ई. को अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रस्तुत कर दी।

उपर्युक्त आयोग तथा समिति की रिपोर्ट का सार यह था कि सन् 1965 ई. तक राजकीय कार्यों में हिन्दी भाषा को राजभाषा के रूप में लागू करना व्यावहारिक नहीं है, इसलिए संसद यथावश्यक विधि द्वारा, निहित प्रयोजनों के लिए अँगरेज़ी भाषा को सहराजभाषा के रूप में प्रयोग करने पर विचार करें। अँगरेज़ी भाषा के स्थान पर हिन्दी भाषा का प्रयोग करने की प्रक्रिया इस प्रकार विकसित तथा संचित की जाए कि किसी प्रकार की असुविधा और राजकाज के कामों में व्यवधान हुए बिना वह लागू हो सके।

सन् 1960 का राजभाषा सम्बन्धी आदेश

राष्ट्रपति द्वारा, **अनुच्छेद-344** (6) के अनुसरण में, 27 अप्रैल, 1960 ई. को एक विस्तृत आदेश जारी किया गया जिसमें प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रावधान थे—

1. शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माण के लिए एक स्थायी आयोग स्थापित किया जाए।

2. शिक्षा मन्त्रालय सांविधानिक नियमों, विनियमों और आदेशों के अतिरिक्त सभी मैनुअलों (संहिताओं) तथा कार्यविधि सम्बन्धी साहित्य का अनुवाद कराए। भाषा में एकरूपता सुनिश्चित करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह (अनुवाद का) कार्य केवल एक ही प्राधिकरण को सौंपा जाए।

(यह अनुवाद-कार्य शिक्षा मन्त्रालय के अधीन शुरू हुआ, पर बाद में गृह मन्त्रालय के **'राजभाषा विभाग'** के अन्तर्गत **'केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो'** को सौंप दिया गया।)

3. तृतीय श्रेणी के नीचे के कर्मचारियों, औद्योगिक संस्थानों के कर्मचारियों तथा कार्य-प्रभारित कर्मचारियों को छोड़कर, उन सभी केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए हिन्दी भाषा का सेवाकालीन प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया जाए जिनकी आयु पहली जनवरी, 1961 ई. को पैंतालीस वर्ष से कम हो।

इसी प्रकार टंककों और आशुलिपिकों को हिन्दी में टंकण और आशुलेखन के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी गृह मन्त्रालय की ओर से की जाए।

(इस समय गृह मन्त्रालय के अन्तर्गत **'राजभाषा प्रशिक्षण संस्थान'** की ओर से यह दायित्व निभाया जा रहा है।)

उपर्युक्त प्रमुख प्रावधानों के अतिरिक्त 'गृह मन्त्रालय' की ओर से सन् 1961 ई. में एक सुनियोजित कार्यक्रम तैयार किया गया जिसके अन्तर्गत, राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग, उसके प्रशिक्षण और असंवैधानिक कार्यालयी/प्रशासकीय साहित्य के हिन्दी अनुवाद की एक निश्चित अवधि तय की गई। इस समूचे कार्यक्रम की देख-रेख के लिए **'कार्यान्वयन समिति'** बनी। अब सभी मन्त्रालयों और विभागों में कार्यान्वयन समितियाँ हैं। इसके अतिरिक्त सभी मन्त्रालयों में हिन्दी सलाहकार समितियाँ भी हैं। एक **'केन्द्रीय हिन्दी समिति'** भी है जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हैं।

राजभाषा अधिनियम 1963 (यथासंशोधित 1967)

10 मई, 1963 को संसद द्वारा राजभाषा अधिनियम पारित किया गया। इसमें कुल नौ धाराएँ हैं जिनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है—

धारा-1 के पहले खंड में अधिनियम के नाम और आरम्भ का निर्देश है। इसके दूसरे खंड में, इसके लागू होने की तिथि 26 जनवरी, 1965 निर्दिष्ट की गई है।

धारा-2 में स्पष्ट किया गया है कि आगामी धाराओं में नियत दिन का अभिप्राय 26 जनवरी, 1965 है तथा **'हिन्दी का अभिप्राय वह हिन्दी है जिसकी लिपि देवनागरी है।'**

धारा-3 की उपधारा (1) में कहा गया है—''संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अँगरेज़ी भाषा नियत दिन (26-1-1965) से ही (क) संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लाई जाती रहेगी जिनके लिए वह उस दिन से ठीक पहले प्रयोग में लाई जाती थी। (ख) संसदीय कार्य-व्यवहार में भी (अँगरेज़ी भाषा) प्रयोग में लाई जाती रहेगी।''

साथ ही जिन राज्यों ने हिन्दी को अपनी राजभाषा घोषित नहीं किया उन्हें पत्रादि में अँगरेज़ी के प्रयोग का अधिकार होगा। इस प्रकार हिन्दी-भाषा को राजभाषा मानने वाले राज्यों और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा को राजभाषा मानने वाले राज्यों के बीच पत्रादि में हिन्दी के साथ अँगरेज़ी अनुवाद होना अनिवार्य होगा। किन्तु जिन राज्यों ने हिन्दी भाषा को राजभाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया वे केवल अँगरेज़ी भाषा का प्रयोग पत्रादि में कर सकेंगे। उनके लिए हिन्दी के प्रयोग की बाध्यता नहीं होगी।

धारा-3 की उपधारा (2) में यह प्रावधान है कि (क) केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों, कार्यालयों, विभागों, कम्पनी-कार्यालयों, निगमों, संस्थानों आदि के बीच तब तक हिन्दी या अँगरेज़ी प्रयोग में लाई जाती रहेगी जब तक सम्बद्ध मन्त्रालय, कार्यालय, विभाग आदि से सम्बद्ध कर्मचारी हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते। स्थिति के अनुसार, अँगरेज़ी के साथ हिन्दी या हिन्दी के साथ अँगरेज़ी का अनुवाद आवश्यक होगा।

धारा-3 की उपधारा (3) के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालयों, कार्यालयों, विभागों, सम्बद्ध संस्थानों, निगमों आदि से सम्बद्ध सभी संकल्पों, आदेशों, नियमों, अधिसूचनाओं, प्रशासानिक या अन्य प्रतिवेदनों तथा प्रेस विज्ञप्तियों, संविदाओं, करारों, अनुज्ञप्तियों आदि के लिए हिन्दी और अँगरेज़ी प्रयोग में लाई जाएगी।

उपधारा (4) में कहा गया है कि अँगरेज़ी या हिन्दी दोनों में प्रवीण न हो पाने वाले कर्मचारियों के हितों पर आँच लाने वाले नियम सरकार नहीं बना सकेगी। (अर्थात् केवल हिन्दी या केवल अँगरेज़ी के दक्ष कर्मचारियों को इच्छानुसार/सुविधानुसार भाषा में कामकाज करने की छूट होगी)।

उपधारा (5) में कहा गया है कि जब तक कोई राज्य अँगरेज़ी में प्रयोग समाप्त कर देने का संकल्प पारित नहीं कर लेते तब तक उन्हें अँगरेज़ी भाषा के प्रयोग की छूट रहेगी।

धारा-4 में एक ऐसी राजभाषा समिति बनाने का प्रावधान है जो धारा-3 के लागू होने की तिथि (26-1-1965) के दस वर्ष पश्चात्, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से गठित की जाएगी। इसका गठन संसद के दोनों सदनों द्वारा किया जाएगा। इसमें तीस सदस्य होंगे—बीस लोकसभा के और दस राज्यसभा के। इन सदस्यों का चयन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एक संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

समिति का कर्त्तव्य यह होगा कि वह संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी के प्रयोग की प्रगति की समीक्षा करके, अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रस्तुत करेगी। राष्ट्रपति उस रिपोर्ट को सदन के दोनों सदनों के सामने रखवाएँगे और सभी राज्य सरकारों को भिजवाएँगे।

ऐसी रिपोर्ट पर, राज्य सरकारों से कोई अभिमत प्राप्त न होने पर, राष्ट्रपति उस रिपोर्ट की सिफारिश के अनुसार आदेश जारी कर सकेंगे, परन्तु वे आदेश—धारा-3 के उपबन्धों से असंगत नहीं होगें।

धारा-5 में केन्द्रीय अधिनियम आदि के प्राधिकृत हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा प्राधिकृत हिन्दी अनुवाद मान्य होगा।

धारा-6 में राज्य के विधान-मंडलों के नियमों, अधिनियमों आदि के हिन्दी-अनुवाद का वही रूप प्राधिकृत मानने की बात कही गई है जिसे राज्यपाल द्वारा प्राधिकृत किया जाएगा।

धारा-7 में उच्च न्यायालयों के निर्णयों आदि में हिन्दी या अन्य राजभाषा के वैकल्पिक प्रयोग का प्रावधान है। इसमें कहा गया है कि हिन्दी या अन्य राजभाषा में दिए गए निर्णय का उच्च न्यायालय द्वारा प्राधिकृत अँगरेज़ी-अनुवाद देना आवश्यक होगा।

धारा-8 में केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि इस (राजभाषा) अधिनियम (1963) के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए नियम बना सकेगी जिन्हें शासकीय राजपत्र (गज़ट) में अनुसूचित किया जाएगा। ऐसे नियम संसद के प्रत्येक सदन के सत्र के समय यथाशीघ्र कुल मिलाकर तीन दिन के लिए उसके सामने रखे जाएँगे। सदन द्वारा सम्बद्ध नियम में कोई उपान्तरण किए जाने पर, वह उसी रूप में लागू होगा। परन्तु ऐसा उपान्तरण, उस नियम के अधीन पहले की गई किसी बात की वैधता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला नहीं होगा।

धारा-9 में यह निर्देश है कि इस अधिनियम की धारा—6,7 जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होगी।

राजभाषा नियम 1976 (यथासंशोधित 1987)

सन् 1963 ई. राजभाषा अधिनियम की धारा-3 की उपधारा (4) तथा धारा-8 के अधीन प्राप्त शक्तियों का उपयोग करते हुए, भारत सरकार ने सन् 1976 ई. में 'राजभाषा नियम' लागू किया। फिर 9 अक्टूबर, 1987 को सन् 1976 ई. 'राजभाषा नियम' में कुछ संशोधन किए गए। इस 'राजभाषा नियम' की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

1. यह नियम संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग से सम्बन्धित है।
2. यह तमिलनाडु को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू होता है।
3. इसके अनुसार, 'क' क्षेत्र के राज्यों द्वारा आपसी या संघ (केन्द्र) के साथ पत्र-व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग होगा।[1]

'ख' क्षेत्र के राज्यों के आपसी या संघ से पत्र-व्यवहार में सामान्यतः हिन्दी का प्रयोग होगा। यदि किसी को अँगरेज़ी में पत्रादि भेजे जाएँ तो उसके साथ हिन्दी-अनुवाद भी भेजा जाएगा।

1. 'क' क्षेत्र में हिन्दी भाषी राज्य उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा संघ शासित क्षेत्र भी समाविष्ट है। 'ख' क्षेत्र में हिन्दी क्षेत्र के सीमावर्ती पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, चंडीगढ़, अंडमान आदि हैं। 'ग' क्षेत्र में अन्य शेष राज्य सम्मिलित हैं।

इसके साथ यह भी प्रावधान है कि 'ख' क्षेत्र के किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को पत्रादि हिन्दी या अँग्रेज़ी में भेजे जा सकते हैं।

'ग' क्षेत्र के राज्यों के आपसी अथवा संघ क्षेत्र या अन्य राज्यों के साथ पत्र-व्यवहार में अँग्रेज़ी का प्रयोग होगा।

यह प्रावधान भी किया गया कि यह पत्र-व्यवहार अंग्रेज़ी या हिन्दी में हो सकता है। लेकिन हिन्दी में पत्र-व्यवहार उसी अनुपात में होगा जिसे केन्द्रीय सरकार सम्बद्ध कार्यालयों में हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखनेवाले कर्मचारियों की संख्या तथा हिन्दी में पत्रादि भेजने की सुविधाओं के आधार पर तय करेगी।

4. केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालयों, विभागों आदि के कार्यालयों का आपसी पत्र-व्यवहार हिन्दी या अँग्रेज़ी में हो सकता है।

क्षेत्र 'क' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों का आपसी पत्र-व्यवहार हिन्दी में हो सकेगा। परन्तु उसका अनुपात केन्द्र सरकार, सम्बद्ध कार्यालय में हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखनेवाले कर्मचारियों की संख्या तथा हिन्दी में पत्र-व्यवहार की सुविधा आदि का ध्यान रखकर तय करेगी।

क्षेत्र 'क' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों का क्षेत्र 'ख' या क्षेत्र 'ग' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों से पत्र-व्यवहार हिन्दी या अँग्रेज़ी में हो सकता है। लेकिन हिन्दी में पत्र-व्यवहार का अनुपात केन्द्र सरकार हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखने वाले कर्मचारियों की संख्या और हिन्दी में पत्रादि भेजने की सुविधा के आधार पर तय करेगी।

यही (उपर्युक्त) प्रावधान क्षेत्र 'ख' और 'ग' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों के आपसी पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में भी है।

परन्तु, यदि आवश्यक हो तो, किसी एक भाषा (हिन्दी या अँग्रेज़ी) में भेजे जाने वाले पत्रों का दूसरी भाषा (अँग्रेज़ी या हिन्दी) में अनुवाद साथ भेजा जाएगा।

5. हिन्दी में प्राप्त पत्रों के उत्तर, केन्द्रीय कार्यालयों से हिन्दी में ही भेजे जाएँगे।

6. राजभाषा अधिनियम 1963 (यथा संशोधित 1967) की धारा-3 की उपधारा (3) बताए गए सभी दस्तावेजों के लिए हिन्दी और अँग्रेज़ी दोनों का प्रयोग किया जाएगा। दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों की यह जिम्मेदारी होगी कि वे यह सुनिश्चित कर लें कि दस्तावेज हिन्दी और अँग्रेज़ी दोनों में हैं।

7. केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी आवेदन, अपील या अभ्यावेदन आदि में हिन्दी या अँग्रेज़ी का प्रयोग कर सकते हैं।

हिन्दी में प्रस्तुत या हस्ताक्षरित आवेदन आदि का उत्तर हिन्दी में दिया जाएगा।

कोई कर्मचारी सेवा-सम्बन्धी विषयों की जानकारी अपनी इच्छानुसार हिन्दी या अँग्रेज़ी में पाने का अधिकारी होगा।

8. केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में टिप्पण-लेखन हिन्दी या अँग्रेज़ी में किया जाएगा। उसका अनुवाद देना आवश्यक नहीं होगा।

हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखनेवाला कोई कर्मचारी किसी हिन्दी-दस्तावेज का अँग्रेज़ी अनुवाद तभी माँग सकता है, जब वह दस्तावेज विधि-सम्बन्धी या तकनीकी प्रकृति का हो। इस बात का निर्णय सम्बद्ध विभाग या कार्यालय का अध्यक्ष करेगा कि माँगा गया दस्तावेज विधिक या तकनीकी प्रकृति का है या नहीं।

9. उनके कर्मचारियों की 'हिन्दी में प्रवीण' माना जाएगा जिन्होंने (क) मैट्रिक या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर कोई परीक्षा हिन्दी के माध्यम से उत्तीर्ण कर ली हो, (ख) स्नातक या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर परीक्षा में हिन्दी को एक वैकल्पिक विषय के रूप में लिया हो, (ग) जो यह घोषणा करे कि उन्होंने हिन्दी में प्रवीणता (कार्यसाधक ज्ञान का योग्यता) प्राप्त कर ली है।

10. **हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान :** (क) मैट्रिक या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर परीक्षा हिन्दी विषय के साथ उत्तीर्ण करना।

(ख) केन्द्रीय सरकार की हिन्दी-प्रशिक्षण योजना के अन्तर्गत प्राज्ञ परीक्षा या सरकार द्वारा किसी विशेष प्रवर्ग के लिए निर्दिष्ट परीक्षा पास कर लेना।

(ग) केन्द्रीय सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में निर्दिष्ट कोई अन्य परीक्षा पास कर लेना।

(घ) कर्मचारी द्वारा यह घोषणा करना कि उसने हिन्दी में कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इसकी पुष्टि केन्द्रीय सरकार द्वारा विनिर्दिष्ट अधिकारी करेगा।

11. केन्द्र सरकार के सभी मैन्युअल, संहिताएँ, प्रक्रिया सम्बन्धी अन्य साहित्य, हिन्दी और अँग्रेज़ी द्विभाषिक रूप में होगा। रजिस्टरों के प्रारूप व शीर्षक आदि भी हिन्दी और अँग्रेज़ी में होंगे। केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों के सभी नामपट्ट, पत्रशीर्ष, लिफाफों आदि पर दी जाने वाली सामग्री भी द्विभाषित होगी।

किन्तु केन्द्रीय सरकार, आवश्यक समझने पर, उपर्युक्त उपबन्धों में छूट दे सकती है।

12. केन्द्रीय कार्यालय के प्रशासनिक प्रमुख की यह जिम्मेदारी होगी कि वह उपर्युक्त उपबन्धों का नियमानुसार पालन सुनिश्चित करे।

राजभाषा संकल्प 1968

संसद के दोनों सदनों ने दिसम्बर 1967 ई. में **राजभाषा संकल्प** पारित किया। यह संकल्प 18 जनवरी, 1968 ई. के राजपत्र (गज़ट) में राजपत्रित (अधिसूचित) किया गया, इसीलिए इसे 'राजभाषा संकल्प 1968' कहा जाता है। इसमें संविधान के अनुच्छेद-343 के अनुसार 'हिन्दी के राजभाषा होने' तथा अनुच्छेद-351 के अनुसार 'हिन्दी भाषा के विकास और प्रसार' का हवाला देते हुए यह संकल्प किया गया कि–

1. हिन्दी के प्रसार एवं विकास की गति बढ़ाने के लिए और संघ के विभिन्न राज्यकीय प्रयोजनों के लिए उत्तरोत्तर प्रयोग हेतु भारत सरकार द्वारा एक अधिक गहन और व्यापक कार्यक्रम तैयार किया जाएगा। उसके कार्यान्वयन की विस्तृत समीक्षा-रिपोर्ट हर वर्ष संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखी जाएगी और राज्य सरकारों को भेजी जाएगी।

2. हिन्दी के साथ-साथ, संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भारत की अन्य सभी भाषाओं के समन्वित विकास के लिए, भारत सरकार राज्य सरकारों के सहयोग से एक कार्यक्रम तैयार करेगी और उसे शीघ्र कार्यान्वित किया जाएगा।

3. राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों के परामर्श से तैयार किए गए 'त्रिभाषा-सूत्र' (फार्मूला) सभी राज्यों में प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए। इस 'त्रिभाषा-सूत्र' के अनुसार हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी और अँग्रेज़ी के अतिरिक्त भारतीय भाषा पढ़ाई जाए जिसमें दक्षिण भारतीय भाषाओं को तरजीह दी जाए। इसी प्रकार अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषाओं और अँग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी के अध्ययन की व्यवस्था की जाए।

4. संघ की लोक-सेवाओं अथवा पदों की भरती करने के लिए उम्मीदवारों के चयन के समय हिन्दी अथवा अँग्रेज़ी में से किसी एक का ज्ञान अनिवार्यतः अपेक्षित होगा। किन्तु यह बात उन विशेष सेवाओं या पदों पर लागू नहीं होगी जिससे सम्बन्धित कर्तव्यों के निष्पादन-हेतु केवल हिन्दी या केवल अँग्रेज़ी अथवा दोनों (जैसी स्थिति होगी) का ज्ञान आवश्यक समझा जाए।

इन (लोक-सेवा सम्बन्धी) परीक्षाओं की भावी योजना व प्रक्रिया सम्बन्धी पहलुओं एवं समय के विषय में संघ लोक सेवा आयोग के विचार जानने के बाद, अखिल भारतीय एवं उच्चतर केन्द्रीय सेवाओं से सम्बन्धित परीक्षाओं के लिए संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषाओं तथा अँग्रेज़ी को वैकल्पिक रूप से रखने की अनुमति होगी।

राजभाषा संकल्प 1991

11 जनवरी, 1991 को संसद द्वारा उपर्युक्त राजभाषा संकल्प 1968 को पुनः पारित किया गया–

(उल्लेखनीय है कि 'संकल्प' नियम, अधिनियम या कानूनी आदेश नहीं। यह एक प्रकार की सिफारिश है अथवा अनुरोध व आग्रह है कि ऐसा किया जाना चाहिए। इसकी कानूनी (वैधानिक) अनिवार्यता या बाध्यता नहीं है। इसीलिए 1968 के संकल्प के ठीक इक्कीस वर्ष बाद तक भी संघ लोक-सेवा आयोग की परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं को वैकल्पिक सुविधा न मिल पाने के कारण, सन् 1991 ई. में संसद ने वही संकल्प पुनः दोहराया।)

राजभाषा : समस्याएँ और समाधान

राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी के विकास-इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सदियों से भारतीय जनता ने और पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों से देश की लोकतन्त्रीय सरकारों ने हिन्दी को सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए हर सम्भव प्रयास किया। इस सम्बन्ध में समय-समय पर जारी किए गए नियमों/अधिनियमों/संकल्पों/आदेशों आदि से यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग-प्रसार और विकास में सदा लोकतन्त्रीय उदार और सहयोग समन्वय का दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा है। फिर भी वर्तमान स्थिति को पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। ऊपरी साँचा और ढाँचा भले ही यह प्रदर्शित करता है कि भारत की राजभाषा हिन्दी है किन्तु उस साँचे के भीतर की आत्मा हिन्दी की न होकर अँग्रेज़ी की ही प्रतीत होती है। कवि अज्ञेय ने ठीक ही कहा था–"जब हम राजनीतिक दृष्टि से पराधीन थे तब तो हमारे पास स्वाधीन भाषा थी। अब जब हम स्वाधीन हो गए, हमारी भाषाएँ पराधीन हो गईं।"

भाषा का विकास-प्रसार और पोषण प्रयोग की उर्वर भूमि पर और व्यवहार के सिंचन से होता है। आज सबसे बड़ी समस्या प्रयोग और व्यवहार के स्तर पर उपेक्षा और उदासीनता की है। त्रिभाषा-फार्मूला काग़जों में तो है, व्यवहार में नहीं। द्विभाषिक (हिन्दी और अँग्रेज़ी दोनों के प्रयोग की) स्थिति औपचारिक रूप से तो है (अर्थात् अधिकांश सरकारी दस्तावेज, फार्म, पत्र-प्रपत्र आदि दोनों भाषाओं में हैं) परन्तु व्यावहारिक रूप से उनमें कर्मचारी एवं सम्भ्रान्त नागरिक अँग्रेज़ी ही लिखते

और प्रयोग में लाते हैं। प्रतिवर्ष 14 सितम्बर को 'हिन्दी-दिवस' धूमधाम से सभी कार्यालयों में मनाया तो जाता है, उसमें संकल्प भी हिन्दी में लिए जाते हैं। किन्तु तत्सम्बन्धी सारी परियोजना, कार्रवाई, लिखा-पढ़ी प्रायः अँग्रेज़ी में ही होती है। अधिकांश सरकारी पत्र-व्यवहार अँग्रेज़ी में चल रहा है क्योंकि 'हिन्दी या अँग्रेज़ी के प्रयोग की छूट है। फिर, दोनों स्थितियों में, या तो मूल पत्र हिन्दी में होना चाहिए, या मूल अँग्रेज़ी पत्र के साथ हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। किन्तु प्रायः होता यह है कि "Hindi Translation Follows"—"हिन्दी अनुवाद संलग्न है" लिखा होने पर भी हिन्दी अनुवाद दिया नहीं जाता क्योंकि यह सोच लिया जाता है कि काम तो अँग्रेज़ी से चल ही जाएगा। इस प्रवृत्ति से कर्मचारियों में हिन्दी-प्रयोग की इच्छा या आवश्यकता की अनुभूति उभरने ही नहीं पाती।

पहले यह समस्या बताई जाती थी कि हिन्दी में सभी राजकीय कार्य-कलाप सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त और पर्याप्त पारिभाषिक शब्दावली नहीं है। विधिक और तकनीकी मामलों में हिन्दी-प्रयोग में कठिनाई होती है—इत्यादि। किन्तु अब विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों द्वारा अनेक ऐसे शब्दकोश, पर्यायवाची कोश तथा अन्य मानक साहित्य प्रकाशित हो चुका है कि किसी भी स्तर पर, किसी भी क्षेत्र में हिन्दी भाषा में सुगमतापूर्वक काम-काज हो सकता है। किन्तु कमी है—इन सुविधाओं को उपयोग में लाने की इच्छाशक्ति की। आज जब टंकण, मुद्रण और कम्प्यूटर तक के क्षेत्र में हिन्दी और देवनागरी में हर प्रकार का कार्य सम्भव हो गया है तो प्रशासकीय प्रयोजनों और कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग सम्भव क्यों नहीं हो सकता?

इनमें सबसे बड़ी समस्या संघ लोक सेवा आयोग द्वारा विभिन्न प्रशासनिक परीक्षाओं में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को उपयुक्त माध्यम न बनाने की है। सन् 1968 और 1991 के संसदीय राजभाषा संकल्पों के बावजूद, इस ओर से सम्बद्ध अधिकारीगण उदासीन हैं। दिसम्बर 1989 में संसदीय राजभाषा समिति ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट कहा था—"**सभी भरती परीक्षाओं के लिखित प्रश्नपत्रों में और साक्षात्कार में भी हिन्दी के प्रयोग की सुविधा दी जाए। सभी प्रश्नपत्र हिन्दी में भी अनिवार्य रूप से छपें। जहाँ अँगरेज़ी का एक पृथक् प्रश्नपत्र अनिवार्य है वहाँ उसके विकल्प में हिन्दी भाषा का प्रश्नपत्र भी रखा जाए।**" फिर भी अनेक प्रशासनिक परीक्षाओं में हिन्दी का विकल्प नहीं दिया जा रहा। 'सिद्धान्त' को 'व्यवहार' में कार्यान्वित न करने की यह प्रवृत्ति सबसे प्रमुख समस्या है।

इसी का यह परिणाम है कि सरकारी नौकरी पाने, जीवन-स्तर तथाकथित रूप से 'ऊँचा' बनाने तथा राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में टिक पाने के विचार

से देश, की युवा पीढ़ी का मोह अँगरेज़ी के प्रति बढ़ता जा रहा है। केन्द्रीय सेवाओं के सन्दर्भ में तो यह हो ही रहा है, प्रादेशिक स्तर पर भी प्रान्तीय सरकारों और लोक आयोग जैसे संस्थानों द्वारा प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा अँगरेज़ी को महत्त्व दिया जा रहा है।

इस प्रकार, राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा मात्र रस्मी खानापूरी बनकर रह गई प्रतीत होती है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक विश्व हिन्दी सम्मेलन हो चुके हैं, संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के दो विदेशमन्त्री (अटलबिहारी वाजपेयी और पी.वी. नरसिंह राव) क्रमशः 1978 और 1984 में हिन्दी में भारत की आवाज बुलन्द कर चुके हैं और भारत के प्रथम अन्तरिक्ष यात्री राकेश शर्मा आकाश से धरती पर भारतीय प्रधानमन्त्री से हिन्दी में संवाद कर चुके हैं, अँगरेज़ी के अनेक पत्र हिन्दी में भी अपने संस्करण निकाल रहे हैं, मॉरिशस, नेपाल, रूस, अमरीका, चीन, जापान, जर्मन और इंडोनेशिया, बर्मा, मलयेशिया आदि में उच्च स्तर पर हिन्दी में शिक्षण-शोध आदि हो रहा है—यह सभी स्थितियाँ पर्याप्त आशाजनक हैं। तथापि अपने देश के प्रशासकीय तन्त्र में, राजभाषा सम्बन्धी विभिन्न प्रावधानों को व्यवहार में लाने के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. 'क' एवं 'ख' क्षेत्र के राज्यों के सन्दर्भ में द्विभाषिक (हिन्दी और अँगरेज़ी दोनों के प्रयोग की छूट की) स्थिति समाप्त कर दी जाए। (अब इस छूट की आड़ में कर्मचारी/अधिकारीगण अँगरेज़ी-प्रयोग को ही वरीयता देते हैं।)

2. कई जगह 'असाधारण स्थिति' में हिन्दी की बजाय अँगरेज़ी के प्रयोग की छूट है। उसे भी तुरन्त हटा दिया जाना चाहिए। (कोई भी व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी स्थिति को 'असाधारण' सिद्ध कर सकता है।)

3. भाषा की शुद्धि का विशेष आग्रह न करते हुए हिन्दी भाषा के प्रयोग का आग्रह किया जाए। हिन्दी को जटिल, अस्वाभाविक या अव्यावहारिक बनाए जाने के दोष से बचकर उसके सहज-सुगम स्वरूप को व्यवहार में लाया जाए। लिपि देवनागरी होने से किसी भी प्रकार के कामचलाऊ शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होगा। संप्रेषण-संचार की सरलता मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

(इस सम्बन्ध में भारत सरकार के पूर्व सलाहकार और तत्कालीन राजभाषा सचिव श्री रामप्रसन्न नायक का 17 मार्च, 1976 ई. को जारी किया गया परिपत्र विशेष ध्यान देने योग्य है, जिसका शीर्षक है—**"सरकारी काम-काज में सरल हिन्दी का प्रयोग।"**)

4. ऊपरी औपचारिकता, जैसे—पत्रशीर्ष, लिफाफे, नामपट्ट आदि पर हिन्दी

अंकित होने की अधिक परवाह न करके, उसके भीतर की वास्तविक सामग्री को (वर्तनी या व्याकरण की सामान्य भूलों की परवाह किए विना) देवनागरी हिन्दी में देने पर विशेष ध्यान दिया जाए।

5. हिन्दी-दिवस, हिन्दी समिति, कार्यान्वयन समिति आदि की रिपोर्टों की रस्म अदायगी छोड़कर, कर्मचारी/अधिकारी वर्ग में 'देवनागरी-हिन्दी के प्रयोग की मानसिकता बनाने का विशेष प्रयास किया जाए। उन्हें प्रेरित किया जाए कि वे—

(क) अधिक से अधिक डाक हिन्दी में निकालें।

(ख) कार्यालय का सभी कार्य हिन्दी में करें।

(ग) पत्रों के पते हिन्दी (देवनागरी) में लिखें।

(घ) सर्वत्र हिन्दी (देवनागरी) में हस्ताक्षर करें।

(ङ) आपसी बातचीत और जन-सम्पर्क में हिन्दी बोलें।

(च) मूल पत्रों के अतिरिक्त टिप्पणियाँ आदि भी हिन्दी (देवनागरी) में लिखें।

(छ) सभी भारतीय भाषाओं का आदर करते हुए उनके साथ हिन्दी प्रयोग को राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक मानें।

6. हिन्दी भाषी क्षेत्रों से अहिन्दी भाषी क्षेत्रों को भेजे जाने वाले हिन्दी-पत्रादि के साथ यदि सम्बद्ध (अहिन्दी) क्षेत्र की प्रादेशिक भाषा में अनुवाद भेजने की प्रवृत्ति अपनाई जाए तो इससे 'हिन्दी थोपे जाने' की भ्रान्ति दूर होगी और आपसी समन्वय बढ़ेगा।

7. विशेष रूप से सम्बद्ध कार्यालय, विभाग, मन्त्रालय, प्रतिष्ठान का अधिकारी वर्ग नौकरशाही परम्परा त्यागकर लोकतन्त्रीय परम्परा के अनुसरण की मानसिकता बनाएँ।

8. अँगरेज़ी के स्थान पर हिन्दी (देवनागरी) और प्रान्तीय भाषाओं में अधिकाधिक प्रशासकीय काम-काज करने और तदनुकूल वातावरण बनानेवालों का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाए।

(इस सम्बन्ध में सन् 1992 का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्त ने अपने जीवन-काल में लगभग चार हजार मुकदमों की सुनवाई हिन्दी में की और हिन्दी (देवनागरी) में ही अपने निर्णय लिखे। इस उपलक्ष्य में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने उन्हें सार्वजनिक रूप से इक्यावन हजार रुपए के पुरस्कार से सम्मानित किया। उन्होंने इसमें अपनी ओर से बीस हजार रुपए और जोड़कर सारी राशि हिन्दी-सेवियों की सहायतार्थ दान कर दी। जब उच्चतम न्यायालय में उनकी नियुक्ति (पदोन्नति) का समय आया तो उन्होंने उसे इस कारण अस्वीकार कर दिया क्योंकि उच्चतम न्यायालय में हिन्दी में सुनवाई और निर्णय देने की छूट नहीं।)

अंत में, भारत के विख्यात मनीषी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और भारत की पूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी के निम्नलिखित कथन प्रस्तुत करना असंगत न होगा—

(क) "आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल कमल के समान है, जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तीय भाषा और उसकी संस्कृति है...हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तीय बोलियाँ जिनमें सुन्दर साहित्य-सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में (प्रान्त में) रानी बनकर रहें...और **आधुनिक भाषाओं के हार की मध्यमणि हिन्दी** भारत भारती होकर विराजती रहे।" (रवीन्द्रनाथ टैगोर)

(ख) "इतने बड़े देश में जहाँ इतनी भाषाएँ हैं, जहाँ देश की एकता के लिए एक कड़ी आवश्यक है कि कोई भाषा ऐसी हो जिसे सब बोल सकें, जो एक कड़ी की तरह सबको मिला-जुलाकर रख सके। इसलिए हिन्दी को बढ़ाना सबका काम है।"

हिन्दी भाषा ने अपनी लगभग एक हज़ार वर्ष की विकास-यात्रा में कई महत्त्वपूर्ण मंज़िलें पार की हैं। आरम्भ में यह लोक-चेतना की अभिव्यंजिका बनी; फिर एक ओर इसमें पारलौकिक दार्शनिक चिन्तन को जन-सामान्य की परिस्थितियों के अनुकूल व्याख्यायित करने का अवसर मिला तो दूसरी ओर मानव के लौकिक जीवन से पारमार्थिक जीवन की ओर अग्रसर होने की विभिन्न स्थितियों और गतिविधियों को स्थाई शब्द भंडार विभिन्न साहित्यिक कृतियों में उपलब्ध कराने का प्रयास हुआ। तदनंतर हिन्दी कभी वीर गाथाओं की गायिका बनी तो कभी शाश्वत जीवन-मूल्यों से संवलित भक्ति भावना की संवाहिका। आगे चलाकर यह सरस साहित्यिक भाषा की परिधि से आगे शास्त्रीय भाषा का स्वरूप धारण करने की ओर प्रवृत्त हुई। उत्तर मध्यकाल में हिन्दी में अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त भाषाशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, पशु-चिकित्सा, स्वास्थ्य विज्ञान, नीतिशास्त्र और व्यावहारिक ज्ञान आदि से सम्बन्धित रचनाओं का प्रणयन भी प्रचुर मात्रा में हुआ।

आधुनिक काल तक आते-आते हिन्दी सामान्य व्यवहार और बहुआयमी साहित्यिक सृष्टि की सूत्रधारिणी बने रहने के साथ-साथ विविध विषयक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सामग्री को भी भाषिक धरातल पर उपलब्ध कराने में सक्षम होती चली गई। संक्षेप में, हिन्दी सामान्य भाषा से साहित्यिक भाषा और साहित्यिक भाषा से वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा बनने की दिशा में निरन्तर अग्रसर रही है। उसके इस क्रमिक विकासजन्य स्वरूप का सम्यक् अध्ययन करने से पूर्व 'सामान्य भाषा' और 'वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा' का अन्तर स्पष्ट कर लेना अपेक्षित है।

'सामान्य साहित्यिक भाषा' तथा 'वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा' में अन्तर

अनुभवसिद्ध विद्वानों ने मानव-संस्कृति के प्रमुखतया दो आयाम निर्दिष्ट किए हैं—(1) अभिव्यक्तिपरक (2) प्रगतिपरक। अभिव्यक्तिपरक आयाम के अन्तर्गत सौन्दर्य-बोध और धार्मिक चेतना की वृत्तियाँ प्रमुख अथवा आधारभूत रहती हैं। परिणामतः मानवीय आस्था की द्योतक विभिन्न उपासना-पद्धतियाँ-धार्मिक विश्वास, जीवन-मूल्य, साहित्य-सृजन, इतिहास-बोध और प्रकृति-पर्यवेक्षण आदि विषय अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं। **दूसरी ओर, प्रगतिपरक आयाम** का सीधा सम्बन्ध ज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष से है। मानव के भौतिक विकास की विभिन्न गतिविधियों के सुचारू संचालन के लिए अपेक्षित ज्ञान-विज्ञान की विश्लेषणात्मक व्याख्या इसकी आधार भूमि है जिसकी केन्द्रीय धुरी निश्चय ही आर्थिक वृत्ति होती है। अर्थशास्त्र, वाणिज्य, विज्ञान की विभिन्न-शाखाएँ, तकनीकी संसाधन एवं संचार-प्रौद्योगिकी आदि विषय इसी प्रगतिपरक आयाम से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से, सामान्य (साहित्यिक) भाषा और वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा में पर्याप्त भिन्नता स्वाभाविक है।

सामान्य साहित्यिक भाषा भाव-केन्द्रित रहती है, जबकि वैज्ञानिक/तकनीकी भाषा विचार-केन्द्रित। विचारों का स्रोत बुद्धि है और बुद्धि तथ्य एवं तर्क के ताने-बाने से निष्कर्षों का पट बुनती है। स्पष्ट है कि साहित्यिक भाषा में कल्पना की व्यापक उड़ान बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियों की तूलिकाएँ एक ही भावानूभूति अथवा वस्तुस्थिति का बहुआयामी बिम्बात्मक चित्रण कर एक विलक्षण आनन्दलोक का सृजन करती हैं। किन्तु, वैज्ञानिक भाषा में कोरी कल्पना का प्रवेश वर्जित है। उसकी जगह प्रायः 'सम्भावना' ले लेती है—'सम्भावना' भी वही जो ठोस सच पर आधारित हो और किसी निश्चित निष्कर्ष की प्राप्ति में सहायक हो सके। वैज्ञानिक और भाषा में प्रयोजनमूलक संक्षिप्तता और वस्तुनिष्ठता अनिवार्य है। अतएव इस क्षेत्र में, केवल 'अभिधा' शब्दशक्ति कार्य करती है। **एक शब्द का एक ही सुनिश्चित अर्थ अभीष्ट होने के कारण, अनेकार्थी शब्दों या एक ही अर्थ के द्योतक विभिन्न पर्यायों की तलाश वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा में निरर्थक है।** विलोम (विपरीतार्थक) अथवा भिन्नार्थक शब्दों का भी इस (वैज्ञानिक) भाषा में कोई महत्त्व नहीं। अभीष्ट संकल्पना का संवाहक कोई एक-ही स्वतःसम्पूर्ण शब्द यहाँ पर्याप्त है। अर्थात, यहाँ ऐसा शब्द चाहिए जो किसी एक सुनिश्चित संकल्पना का बोधक हो, उससे किसी अन्य अर्थ के बोध की संभावना ही न हो। इसी प्रकार, उस सुनिश्चित संकल्पना के प्रतीक-रूप में प्रस्तुत शब्द का स्थान कोई और शब्द न ले सके।

विविध प्रयोजनात्मक स्तर पर, किसी विशेष संकल्पना या अवधारणा की

अभिव्यक्ति के लिए एक ही शब्द किस प्रकार सर्वथा भिन्न तात्पर्य का द्योतक बन जाता है, इस सन्दर्भ में उदाहरणतया दो शब्द लें—'प्रेज़िडेंट' [Persident] और 'स्पीकर' [Speaker]। सामान्य सामाजिक-राजनीतिक व्यवहार में प्रथम शब्द के लिए हिन्दी के अनेक समतुल्य शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं—अध्यक्ष, सभापति, प्रधान इत्यादि (अग्रवाल सभा के प्रधान ने यह कहा, श्री क, ख, ग अमुक बैठक में सभापति के आसन पर विराजमान थे, क, ख दल के अध्यक्ष श्री अमुक हैं); किन्तु संवैधानिक प्रयोजन के सन्दर्भ में इसी 'प्रोज़िडेंट' शब्द के लिए केवल 'राष्ट्रपति' शब्द ही मान्य है। 'स्पीकर' शब्द जब विधानमंडलीय प्रयोजन-हेतु प्रयुक्त होता है तब उसके समतुल्य 'अध्यक्ष' शब्द का प्रयोग संगत होगा किन्तु जब किसी आम सभा की कार्रवाई की प्रस्तुति का प्रयोजन होगा, तब इसका समकक्ष शब्द 'वक्ता' ग्रहण किया जाएगा।

एक अन्य शब्द है—'स्पेस' [Space]। सामान्य व्यावहारिक प्रयोजनों में यह शब्द आमतौर पर 'स्थान', 'जगह' आदि का द्योतक समझा जाता है, किन्तु वैज्ञानिक प्रयोजन में प्रवेश करने पर इसका समतुल्य शब्द 'अन्तरिक्ष' माना जाता है। पत्रकारिता-प्रयोजन की दृष्टि से यही 'स्पेस' शब्द 'अन्तराल' (दो शब्दों या पंक्तियों के मध्य की दूरी) का बोध कराता है। अँग्रेज़ी शब्द 'बर्थ' [Birth/Berth] के समतुल्य हिन्दी शब्दों की तलाश करते समय भी प्रयोजन-भिन्नता निर्णायक भूमिका निभाती है। सामान्य सामाजिक प्रयोजनों में इस शब्द के लिए 'जन्म' शब्द उपयुक्त है, किन्तु रेल-परिवहन के प्रयोजनान्तर्गत इस शब्द का अभिप्राय बैठने का स्थान (सीट) लिया जाता है (हमें दो बर्थ और एक शयनयान [Sleeper स्लीपर] का आरक्षण कराना है)।

मूलतः, उत्स के स्तर पर भाषा प्रायः एक सुनिश्चित ध्वनि-समूह, रूप-संरचना एवं वाक्य-विन्यास का साँचा लिए रहती है किन्तु ज्यों-ज्यों वह (भाषा) विकास और प्रसार के विविध पड़ाव पार करती है, त्यों-त्यों उसके प्रकार्यात्मक प्रयोजनों के दायरे भी विस्तृत होने लगते हैं। तब उन बहुविध प्रयोजनों का निर्वाह करने के लिए भाषा की ध्वनि-रूप-वाक्यपरक संरचना की विभिन्न रेखाएँ मूलतः एक-सी होते हुए भी अनायास अलगाने लगती हैं। उदाहरणतया 'संज्ञा' शब्द की ध्वनि-व्यवस्था और रूपरचना सदा एक-सी रहेगी किन्तु सामान्य मानव-व्यवहार में यह शब्द 'चेतना' का द्योतन कराता है (दुर्घटना के कारण वह संज्ञा-शून्य हो गया, कुछ उपचार के पश्चात् उसकी संज्ञा लौट आई), जबकि यही शब्द व्याकरणिक प्रयोजन के दायरे में आते ही एक विशिष्ट 'पारिभाषिक प्रयुक्ति' बन जाता है (संज्ञा-पद विकारी होते हैं, व्यक्ति, जाति और भाव के आधार पर संज्ञा तीन प्रकार की है, संज्ञा के स्थान पर

प्रयुक्त होनेवाला पद सर्वनाम है, संज्ञा-पद की विशेषता का बोध करानेवाला शब्द विशेषण कहलाता है...आदि)। इस तरह प्रयोजन का दायरा बदलते ही किसी भाषिक इकाई का संदर्भ, अर्थ और प्रकार्य एकदम भिन्न हो जाता है। ['रस' शब्द के प्रायोगिक स्वरूप की विविधता इसका एक अन्य प्रमाण है। दो ध्वनियों से रचित यह छोटा-सा शब्द-रूप वनस्पतिशास्त्री प्रयोजन की सार्थकता के लिए जिस पदार्थ, तत्त्व या तात्पर्य का बोधक है (नींबू का रस, आम का रस), काव्यशास्त्रीय परिधि में आते ही यह उससे एकदम भिन्न हो जाता है (शृंगार रस, वीर रस, हास्य रस)। यहाँ 'रस' शब्द 'अलौकिक आनन्द' की ओर संकेत करता है जबकि वनस्पतिशास्त्र में इसका प्रयोजन है—एक विशिष्ट स्वादयुक्त तरल पदार्थ का बोध कराना। यही शब्द आयुर्विज्ञान में किसी वस्तु के 'सार तत्त्व' का प्रयोजन व्यक्त करता है।]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य साहित्यिक स्तर पर प्रयुक्त होने वाली भाषा वैज्ञानिक या तकनीकी क्षेत्र में प्रयुक्त होने पर अपने मूल संरचनागत साँचे (ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य आदि) से अलग नहीं हो जाती; उसका संरचनात्मक स्वरूप यथावत रहता है, केवल उसके प्रयोजनपरक प्रकार्य का स्तर या दायरा बदल जाता है। वह (भाषा) 'सामान्य' न रहकर 'विशेष' हो जाती है। उसका यह 'विशेषीकृत' रूप की उसे वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा का अभिधान ग्रहण करने के योग्य बनाता है। उदाहरणतया 'बाज़ार' हिन्दी का सामान्य शब्द है परन्तु 'शेयर बाज़ार', 'विश्व बाज़ार', 'काला बाज़ार' आदि प्रयुक्तियों में यही शब्द अर्थशास्त्र या वाणिज्य क्षेत्र की प्रयोजनपरक इकाई है। इसी तरह 'निजी' का अभिप्रायः 'ग़ैर सरकारी' और 'सार्वजनिक' का अर्थ 'सरकारी' माना जाता है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि हिन्दी का वैज्ञानिक एवं तकनीकी आदि विविध भाषा रूपों में विकास किसी रूप में और कहाँ तक हो पाया है, हो रहा है और यदि उसमें कोई न्यूनता है तो उसका निवारण कैसे हो सकता है!

हिन्दी का वैज्ञानिक भाषा के रूप में विकास

भारत की अधिकांश आधुनिक भाषाओं का उत्स और उपजीव्य संस्कृत है। हिन्दी को भी संस्कृत की भाषिक विरासत सहज रूप में प्राप्त है। इसी कारण हिन्दी भारत के अधिकांश भू-भाग में (और भारत से बाहर भी), विभिन्न विधाओं और विषय-क्षेत्रों के माध्यम रूप में अपना दायित्व सुचारु रूपेण निभा पाने में संलग्न है। इस दृष्टि से, वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के रूप में हिन्दी के विकास में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आयुर्विज्ञान, स्थापत्य, भू-गोल, ख-गोल, वास्तुशास्त्र, नक्षत्र-विज्ञान,

वनस्पतिशास्त्र, गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, परिवहन-शास्त्र आयुध-विज्ञान एवं जीव-विज्ञान आदि के लिए उपयुक्त तकनीकी शब्दावली की संकल्पना भारत के लिए कोई नई बात नहीं। विश्वकर्मा, चरक, सुश्रुत, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, कौटिल्य आदि मनीषियों के विशिष्ट विषयों के ग्रन्थों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय, वाल्मीकी-कृत रामायण, व्यास-रचित महाभारत, विविध पुराणों तथा कालिदास, अश्वघोष, शूद्रक, भास आदि के संस्कृत ग्रन्थों के साथ पालि-प्राकृत और अपभ्रंश में रचित बौद्ध और जैन ग्रन्थों में विविध विज्ञानों से सम्बन्धित सटीक तकनीकी शब्दावली का यथास्थान, यथोचित प्रयोग आज सर्वज्ञात है। इन ग्रन्थों के आधार पर, प्राचीन भारत के आयुर्विज्ञान, कृषि-विज्ञान, वास्तुशास्त्र, आयुधविज्ञान, अर्थशास्त्र, मूर्ति-निर्माण, नगर-प्रबन्ध, युद्ध-विज्ञान, जीव-विज्ञान, गणित, ज्योतिष और नक्षत्र विज्ञान आदि के सम्बन्ध में असंख्य शोधग्रन्थ अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। वैद्यकल्पतरु, अश्वसंहिता, सर्वसंग्रह, शस्त्र-नाममाला आदि रचनाओं में संस्कृत की विविध विषयक तकनीकी शब्दावली का कहीं-कहीं यथावत् और कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत परिवर्तित (तद्भव) रूप प्रयुक्त है। कहीं-कहीं हिन्दी के रचनाकारों ने समकालीन परिवेश में प्रचलित तत्सम्बन्धी ऐसे तकनीकी शब्द भी अपनाए हैं जिन्हें संस्कृत प्रयुक्तियों के समान्तर मौलिक प्रयुक्तियाँ माना जा सकता है। इस दृष्टि से, कुछ तथाकथित भाषाविज्ञों द्वारा बार-बार दोहराया जाने वाला यह कथन तो सर्वथा निराधार ही है कि 'हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों की अभिव्यंजना में सक्षम तकनीकी शब्दावली का अभाव है।' इस भ्रान्त धारणा का एक मुख्य कारण यह है कि भारत में विकसित प्राचीन वैज्ञानिक विधाओं की पृष्ठभूमि यहीं का भौगोलिक और प्राकृतिक परिवेश होने के कारण, उससे सम्बन्धित तकनीकी शब्दावली यहीं की भाषिक संरचना-प्रक्रिया के आधार पर निर्मित है जो आधुनिक यूरोपीय संकल्पनाओं की संवाहक (अधिकांशतः अँग्रेज़ी) शब्दावली से मेल नहीं खाती।

निस्सन्देह, आज के भूमण्डलीकरण के दौर में किसी-भी देश की भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय तौर पर निरन्तर विकासमान संकल्पनाओं और अवधारणाओं के अनुरूप ही अपनी संकल्पनात्मक क्षमता और ऊर्जा को साकार करना आवश्यक है—वह केवल बहुत पुराने पड़ चुके सिद्धान्तों की संवाहक शब्दावली के सहारे प्रगति की दौड़ में अपने प्रयोक्तावर्ग का साथ नहीं दे सकती। परन्तु इसके लिए मात्र 'परावलम्बन' और 'उधार' की प्रवृत्ति पर्याप्त नहीं, अपनी निजी आन्तरिक संरचनात्मक ऊर्जा को पहचान कर उसे सार्थक स्वरूप में साकारा करना भी ज़रूरी है। हिन्दी में निश्चय ही यह क्षमता मौजूद है जिसका मुख्य स्रोत संस्कृत जैसी समृद्धतम भाषा

है और जिसे भारत की अनेक जनपदीय बोलियों का व्यावहारिक अनुभवजन्य सहयोग भी सहज प्राप्त है।

हिन्दी के वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया में पहला अवरोध तब आया जब मध्यकाल में यहाँ इस्लामी शासन की स्थापना हुई। अधिकांश प्रशासनिक कार्यकलाप में फ़ारसी को महत्त्व मिलने के कारण, अन्यान्य विषयों और क्षेत्रों में भी, उन प्रयोजनों के लिए निर्धारित फ़ारसी की विशिष्ट (तकनीकी) शब्दावली के प्रयोग को प्रोत्साहन मिला, हिन्दी में नूतन शब्द-निर्माण के अंकुर फूटने से पहले ही मुरझा गए। इस पर विडम्बना यह कि शुरू-शुरू में, भारत की निजी संस्कृति, विद्या, कला, शिल्प और विकास-प्रगति के प्रतीक स्थल, विद्यालय, पुस्तकालय आदि उस समय के नवागत विदेशी शासकों की ध्वंस-लीला के शिकार हो गए अतः हिन्दी की जिजीविषा केवल कुछ साहित्यिक विधाओं के सृजन तक सीमित रही। अँग्रेज़ों के शासन तथा अंग्रेज़ी के वर्चस्व के रूप में। पहले की स्थिति यदि एक प्रत्यक्ष अवरोध थी जिसका प्रतिकार शायद भाषिक पुनरुत्थान द्वारा सम्भव हो जाता, परन्तु दूसरी स्थिति परोक्ष विभीषिका थी जो अनजाने में ही एक विदेशी भाषा को उपयोगी रसायन के रूप में अधिकाधिक अपनाने के बहाने भीतर-ही-भीतर निंजी शक्ति की हानि का कारण बन रही थी। समाज और प्रशासन में सम्मानजनक स्थान पाने की महत्त्वाकांक्षा ने अँग्रेज़ी की दासता को प्रगति का एकमात्र सोपान बना दिया। हिन्दी अँग्रेजी सीखने का माध्यम मात्र बन गई, उसके अभिनव वैज्ञानिक स्वरूप के निर्माण की परिकल्पना अदृश्य रह गई। लेकिन शीघ्र ही हिन्दी-चेतना ने अंगड़ाई ली--भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उद्घोष के रूप में--

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल,
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को सूल।

आज प्रयुक्त हो रहे विज्ञान तकनीक के अनेक शब्द सन् 1901 ई. की जनगणना-रिपोर्ट में की गई यह टिप्पणी बड़ी महत्त्वपूर्ण थी कि **'हिन्दी के पास ऐसा शब्दकोश तथा अभिव्यक्ति की ऐसी क्षमता है जो अंग्रेज़ी से किसी प्रकार भी कम नहीं।''**

इसी पृष्ठभूमि में, जब स्वतन्त्रता-प्राप्ति (15 अगस्त, 1947 ई.) के बाद भारत के संविधान में **'संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी'** घोषित करते हुए यह प्रावधान किया गया कि ''किसी राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिन्दी को उस राज्य के

सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा के रूप में अंगीकार कर सकेगा...'' तो विभिन्न प्रकार की प्रशासनिक शब्दावलियों के कोश भी तैयार होने लगे जिनमें प्रमुखतया उल्लेखनीय हैं–

* सन् 1955 में बिहार विधान सभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु के सम्पादन में **'राजकीय प्रशासन शब्दावली'**।

* इसी के बृहद् संस्करण का पहला खंड सन् 1970 में और दूसरा खंड सन् 1976 ई. में प्रकाशित हुआ।

* सन् 1962 में **'उत्तर प्रदेश प्रशासन शब्दकोश'** का प्रकाशन।

* मध्य प्रदेश में क्रमशः **'प्रशासन शब्दकोश', 'शासन शब्द प्रकाश'** एवं 'हिन्दी सहायिका' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

* राजस्थान सरकार ने सन् 1977 ई. में **हिन्दी प्रयोग मार्गदर्शिका** प्रकाशित की।

* हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में भी **प्रशासनिक शब्दकोश** प्रकाशित हुए।

* दिल्ली में केन्द्र सरकार के **'हिन्दी निदेशालय'** एवं **'वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग'** के केन्द्रीय कार्यालय होने के कारण उनके समस्त तकनीकी प्रकाशन स्वतः ही उपलब्ध रहे। इस सम्बन्ध में भारत सरकार द्वारा सन् 1965 ई. में प्रकाशित **'बृहत् प्रशासन शब्दावली'** और **'विधि शब्दावली'** के नाम रेखांकित करने योग्य हैं।

उल्लेखनीय है कि सन् 1979 ई. में, **'संघ लोक सेवा आयोग'** द्वारा भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा के सभी प्रश्नपत्रों के लिए हिन्दी तथा अष्टम सूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं को माध्यम के रूप में अपनाने की सुविधा दे दिए जाने के कारण, हिन्दी को वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में विकसित करने की दिशा में विभिन्न स्तरों पर तीव्रता से ठोस प्रयास होने लगा।

इस बीच, भारत सरकार द्वारा सन् 1950 ई. में **'वैज्ञानिक शब्दावली मंडल'** की स्थापना की गई। इस मंडल ने लगभग दस वर्ष की अवधि में, हिन्दी में तीन लाख वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्द तैयार किए जिन्हें सन् 1961 ई. में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की ओर से **'पारिभाषिक शब्द संग्रह'** के रूप में प्रकाशित किया गया। इसी वर्ष (अक्तूबर सन् 1961 ई. में) केन्द्र सरकार ने **'वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग'** का गठन किया जो विज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं (अन्तरिक्ष विज्ञान तक) से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण एवं प्रकाशन कर चुका है तथा इस दिशा में नित्य नवीन अपेक्षाओं के अनुरूप उपयुक्त शब्दावली-निर्माण में पूरी तत्परता से संलग्न है।

उल्लेखनीय है कि आयोग द्वारा रक्षा, डाक-तार विभाग और रेलवे से सम्बन्धित शब्दावलियों के अतिरिक्त वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान और भू-विभाग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दकोश भी तैयार कराये गए हैं। आयोग के ही तत्त्वावधान में रुड़की और पन्त नगर जैसे कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों और औद्योगिक संस्थानों में अलग-अलग प्रकोष्ठ स्थापित किए गए। इनके सहयोग से आयुर्विज्ञान (अठारह हज़ार शब्द) जैसे अनुप्रयुक्त विज्ञानों से सम्बन्धित तकनीकी शब्दकोश तैयार कराये गए। इनके अतिरिक्त हिन्दी के माध्यम से पशु चिकित्सा, और भेषजी आदि के शिक्षण-हेतु पुस्तकें भी प्रकाशित कराई गई हैं।

आयोग द्वारा **'ज्ञान सिंधु गरिमा'** और **'विज्ञान सिंधु गरिमा'** नामक दो पत्र भी निकल रहे हैं। अन्य जो महत्त्वपूर्ण दायित्व आयोग निभा रहा है उनमें हिन्दी भाषी राज्यों के विश्वविद्यालयों के शिक्षकों को हिन्दी की नवनिर्मित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली से परिचित करने के लिए, समय-समय पर, अलग-अलग स्थानों पर विभिन्न गोष्ठियों का आयोजन विशेष उल्लेखनीय है। इससे व्यावहारिक और अनुप्रयोगात्मक स्तर पर वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के रूप में हिन्दी के विकास की प्रक्रिया को निश्चित रूप से प्रोत्साहन मिलेगा।

स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुच्छेद 351 में संघ (केन्द्र) सरकार को हिन्दी के प्रचार-प्रसार के दायित्व तथा विकास का दिशा-संकेत देते हुए कहा गया है—"जहाँ आवश्यक अथवा वांछनीय हो वहाँ उसके (हिन्दी के) शब्द भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।" इसी दिशा-निर्देश के अनुसरण में, शिक्षा मन्त्रालय ने 'केन्द्रीय शिक्षा परामर्श मंडल' की सिफारिश पर सन् 1950 ई. में एक 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली' बोर्ड गठित किया जिसके द्वारा हिन्दी में तकनीकी शब्दावली के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर किए गए।

सन् 1952 में शिक्षा मन्त्रालय के अन्तर्गत एक **'हिन्दी अनुभाग'** की स्थापना की गई। इस अनुभाग द्वारा तकनीकी शब्दावली के कई संग्रह तैयार किए गए और उनकी प्रामाणिकता की पुष्टि के लिए विषयानुसार अलग-अलग विशेषज्ञ-समितियाँ गठित की गईं। कार्य-विस्तार होने पर उपर्युक्त 'हिन्दी अनुभाग' को **'हिन्दी प्रभाग'** का दर्जा दे दिया गया। इसके द्वारा हिन्दी के वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के रूप में विकास के लिए विविध स्तरों पर बहुआयामी योजनाएँ हाथ में ली गईं जिनमें नागरी टंकण यन्त्र के मानक कुंजीपटल के निर्माण और वर्तनी के मानकीकरण की प्रक्रिया भी शामिल थी।

इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु था—प्रथम मार्च, 1960 को **'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय'** की स्थापना। इसे सर्वप्रथम वैज्ञानिक शब्दावली और पारिभाषिक कोश के निर्माण का कार्य सौंपा गया। **'हिन्दी अनुभाग'** और **'हिन्दी प्रभाग'** द्वारा संरचित जो तीन लाख पारिभाषिक शब्द विषयानुसार अलग-अलग संग्रहों के रूप में छप चुके थे उन्हीं को, प्रथम अक्तूबर, 1961 में गठित **'वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग'** ने समेकित रूप में एक लाख प्रविधियों वाले **'पारिभाषिक शब्द संग्रह'** के नाम से प्रकाशित किया।

शुरू में, विधि संबंधी पारिभाषिक शब्दावली का कार्य शिक्षा मन्त्रालय के अंतर्गत **'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय'** कर रहा था; बाद में यह कार्य विधि मन्त्रालय को सौंप दिया गया। इसी प्रकार **'राजभाषा विभाग'** के कार्य-कलाप जब गृह-मन्त्रालय के अन्तर्गत आ गए तो इसी के अधीन **'केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो'** की स्थापना की गई तथा प्रशासनिक साहित्य के अनुवाद का दायित्व उसे दे दिया गया।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दकोश तैयार कराने के अतिरिक्त, विविध भारतीय भाषाओं में अन्तःसम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनेक 'द्विभाषी' और 'त्रिभाषी' कोश भी तैयार कराये हैं जिनकी संख्या दो दर्जन से अधिक है। इसी प्रकार, **हिन्दी-संयुक्त राष्ट्र संघ भाषा कोश** सम्बन्धी योजना के अन्तर्गत हिन्दी-अरबी, हिन्दी-चीनी, हिन्दी-फ्रांसीसी एवं हिन्दी-स्पेनी आदि कोश नागरी लिपि में तैयार कराये गए हैं।

इधर, प्रायः सभी हिन्दी भाषी राज्यों को विभिन्न **अकादमियाँ, संस्थान** और **प्रकाशन-विभाग** हिन्दी को वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के रूप में समृद्ध करने के लिए असंख्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके हैं। तात्पर्य यही है कि आज हिन्दी वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा के रूप में पर्याप्त विकसित हो चुकी है और विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। इस सन्दर्भ में **'वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्'** की पत्रिका **'विज्ञान प्रगति'** **विज्ञान परिषद प्रभाग** की **'अनुसंधान पत्रिका'** एवं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित **'रसायन समीक्षा'** आदि पत्रिकाओं का योगदान भी उल्लेखनीय है।

यहाँ विभिन्न क्षेत्रों में, वैज्ञानिक तथा तकनीकी भाषा के रूप में हिन्दी के अनुप्रयोग के स्वरूप का विहंगावलोकन उपयुक्त होगा। इस दृष्टि सें सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य हुआ और हो रहा है **आकाशवाणी** तथा **दूरदर्शन** द्वारा। आज के अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, जीवविज्ञान, आयुर्विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, अन्तरिक्षविज्ञान, दूर संचार एवं विविधोन्मुखी प्रौद्योगिकी का बहुआयामी

विकास त्वरित गति से हो रहा है। आकाशवाणी से, इनसे सम्बन्धित समाचार, समीक्षाएँ, परिचर्चाएँ, भेंटवार्त्ताएँ तथा अन्य परिचयात्मक कार्यक्रम हिन्दी में प्रतिदिन प्रसारित होते रहते हैं। कानूनी सलाह, स्वास्थ्य-समस्या, खेती-बाड़ी, बाग-बानी आदि के विषय में बड़ी उपयोगी जानकारी सहज-सुबोध भाषा में जन-सामान्य के लिए हिन्दी में उपलबध कराई जाती है। विशेषतया 'युव-वाणी कार्यक्रम' और यूनीवर्सिटी आफ द एयर' कार्यक्रमों के अन्तर्गत मानविकी, समाजशास्त्र तथा वाणिज्य आदि से सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में अँग्रेज़ी और हिन्दी में साथ-साथ रेडियो वार्त्ताएँ प्रतिदिन प्रसारित होती हैं जिन्हें सुनकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी आज वैज्ञानिक तथा तकनीकी भाषा के रूप में कितनी सक्षम और समृद्ध है।

दूरदर्शन से विविध वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों पर हिन्दी में प्रसारित होने वाले कार्यक्रम तो इतने लोकप्रिय और उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं कि रस्मी तौर पर हिन्दी को 'असमर्थ', 'अपूर्ण' और 'क्लिष्ट' बताने वाले अनेक अंग्रेजीपरस्त दर्शक भी दूरर्शन के हिन्दी-कार्यक्रमों को रुचिपूर्वक, तन्मय भाव से देखकर खुश होते हैं। राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय प्रसारण केन्द्रों से विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के लिए विभिन्न विषयों के शिक्षण-सम्बन्धी कार्यक्रम अँग्रेज़ी के अलावा हिन्दी में भी प्रस्तुत किए जाते हैं। 'इन्दिरागांधी मुक्त विश्वविद्यालय' (इग्नू) की ओर से तैयार किए गए कार्यक्रम हिन्दी को विश्वस्तरीय वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा सिद्ध करते हैं। इन राजकीय प्रसारभारती प्रसारण केन्द्रों के अलावा, निजी चैनलों ने तो इस क्षेत्र में और भी बाज़ी मार ली।

नित्य नए वैज्ञानिक और जोखिम भरे साहसिक अनुसंधानों पर आधारित कार्यक्रम प्रस्तुत करने में 'डिस्कवरी चैनल' अग्रणी है। वर्ष-भर में वन, पर्वत, सागर, भूगर्भ, अन्तरिक्ष, बाढ़, भूकम्प, चिकित्सा, पर्यावरण तथा अन्यान्य अनेक विषयों के सूक्ष्मतम विवरणों सहित लगभग एक हज़ार कार्यक्रम यह चैनल अत्यन्त सहज-सुबोध तकनीकी शब्दावली में दृश्य-श्रव्य रूप में प्रस्तुत करता है। हिन्दी का मामूली ज्ञान रखने वाले दर्शक भी विभिन्न वैज्ञानिक गतिविधियों को प्रत्यक्ष देख-देखकर धीरे-धीरे हिन्दी की विभिन्न तकनीकी प्रयुक्तियों से सहजतया परिचित हो जाते हैं। इस चैनल की अपार लोकप्रियता को देखकर, अब 'ज़ी', 'सोनी' और 'स्टार' जैसे निजी चैनलों के साथ-साथ प्रसारभारती के राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय प्रसार केन्द्र भी विभिन्न वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों पर हिन्दी में (मौलिक नहीं तो अँग्रेज़ी से 'डब' करके) अनेक धारावाही प्रसारित करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। यहाँ तक कि हिन्दी दैनिक समाचार बुलेटिनों का भी कुछ अंश अब विभिन्न प्राकृतिंक, भौगोलिक,

खगोलीय अथवा चिकित्सा-विषयक नई जानकारियों का हिन्दी के माध्यम से प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराता है।

इस क्षेत्र में अतिमहत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं हिन्दी की अनगिनत पत्र-पत्रिकाएँ। केवल 'विज्ञान' या 'प्रौद्योगिक़ी' से सम्बन्धित पत्रिकाओं की संख्या तो कम है, लेकिन दैनिक पत्रों के रविवासरीय या विशिष्ट साप्ताहिक संस्करणों में कुछ ऐसे लेख अवश्य छपते रहते हैं जिनमें विभिन्न वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों का विवेचन-विश्लेषण सहज-सुबोध हिन्दी में किया जाता है। 'भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संस्थान' (इसरो) की पिछली दो दशकों की उपलब्धियों से यदि आज आम भारतीय परिचित हैं तो इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं और आकाशवाणी-दूरदर्शन के माध्यम से।

विभिन्न क्षेत्र में हिन्दी के वैज्ञानिक और तकनीकी स्वरूप के अनुप्रयोग की स्थिति पर विचार किया जाए तो भी इसकी समृद्धि सन्तोषजनक प्रतीत होगी। आज़ादी के बाद भारत में **प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली** अपनाई गई। अँग्रेजी में 'प्रजातन्त्र' (अब इसके लिए 'लोकतन्त्र' शब्द प्रचलित है)। अँग्रेज़ी-दां विद्वान और शिक्षक 'डेमोक्रेसी' से सम्बन्धित शब्दों में लिए विभिन्न यूरोपीय शब्दों का उल्लेख करते नहीं अघाते, जबकि भारत के लिए 'गणराज्य' या 'प्रजातन्त्र' कोई नई संकल्पना नहीं। प्राचीन भारत में उसका अस्तित्व रहा है, अतः संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इससे सम्बन्धित तकनीकी शब्दों की प्रचुरता है। इसीलिए संसदीय पारिभाषिक शब्दावली के लिए गठित संसदीय समिति ने अध्यक्ष, सभापति, कार्यसूची, अभिज्ञान (एफर्मेशन), प्रश्नकाल, वित्त-विधेयक (फिनांस बिल), सत्रावधान, विशेषाधिकार (प्रिविलेज), स्थगन प्रस्ताव, अनुपूरक अनुदान, सचेतक (विह्प), ध्यानाकर्षण प्रस्ताव (काल अटेंशन मोशन), सत्ता पक्ष (ट्रेज़री बैंचिज़), कटौती प्रस्ताव (कट मोशन), पीठासीन अधिकारी (प्रेज़ाइडिंग आफीसर) जैसे शब्द निर्धारित किए जो अब सर्वप्रचलित हैं। विधि और न्याय सम्बन्धी हिन्दी शब्दावली के लिए भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'विधि शब्दावली' बहुत महत्त्वपूर्ण और अपयोगी सिद्ध हो रही है।

भारत का **नौवहन उद्योग** हज़ारों वर्ष पुराना है। आज भी भारतीय समुद्री तटों पर, समुद्र के भीतर और बाहर या बन्दरगाहों पर काम करने वाले हज़ारों लोग नौवहन उद्योग में प्रचलित परम्परागत भारतीय शब्दों का प्रयोग करते हैं। समुद्र-मार्ग से विभिन्न देशों से भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के ऐतिहासिक वृत्तान्त सर्वज्ञात हैं। अतः हिन्दी को नौवहन सम्बन्धी शब्दावली विरासत से ही प्राप्त है।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, हिन्दी में **इंजीनियरी (अभियान्त्रिकी)** से सम्बन्धित तकनीकी शब्दावली के विकास का दायित्व इस क्षेत्र में प्रसिद्ध 'रुड़की विश्वविद्यालय' को सौंपा गया। 'वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग' द्वारा निर्धारित समन्वयमूलक सिद्धान्तों के आधार पर इस विश्वविद्यालय के विद्वानों ने अपना दायित्त्व पूर्ण निष्ठा से निभाया। सर्वप्रथम सिविल, विद्युत और यान्त्रिक इंजीनियरी से सम्बन्धित लगभग पच्चास हज़ार शब्दों के वृहद् संग्रह का पहला खंड सन् 1976 ई. में प्रकाशित हुआ। दूसरे खंड के अन्तर्गत वैज्ञानिकी धातुकर्म इलैक्ट्रॉनिकी और वस्त्रोद्योग से सम्बन्धित इंजीनियरी के लगभग बीस हज़ार हिन्दी शब्द संकलित हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—अभिगम : एक्सिस, सक्रिय : एक्टिव, आसंजक : ऐधेसिव, प्रतिज्वलन : बैकफ़ायर, अन्तराल : पिच, जनन : जेनरेशन, मानुषमोखा : मैनहोल, गुटका : ब्लॉक, दाबोच्चता : प्रेशर हैड, अचल भार : डैड वेट इत्यादि।

वाणिज्य क्षेत्र का सम्बन्ध सर्वसाधारण के जीवन के साथ सबसे अधिक है क्योंकि इसका मूल आधार अर्थतन्त्र है। अतः इस क्षेत्र की हिन्दी की तकनीकी शब्दावली का अनुप्रयोग प्रचुरता से हो रहा है—अर्थशास्त्र, आर्थिक प्रगति, वित्त, वित्तीय सुदृढ़ता, क्रय-विक्रय, मुद्रा, मुद्राप्रसार, विनिमय मुद्रा, उत्पादन, माँग, आपूर्ति, साख, पूँजी, पूँजीबाज़ार, प्रतिभूति, प्रत्याभूति, गरीबी-रेखा, प्रभार, राजस्व, हुंडी, निकाय, ब्याज, अधिशेष इत्यादि। सिक्योरिटी, प्रीमियम, चैक, बांड, बिल जैसे अंग्रेजी शब्द भी लिप्यंतरण के माध्यम से अपनाए जा रहे हैं। इस क्षेत्र में ऐसे संकर शब्दों की भरमार है जो एक प्रकार से तकनीकी या अर्द्धतकनीकी स्तर के हैं। जैसे—गैर ज़मानत, एकमुश्त, ज़मानती ऋण, ग़ैर अनुसूचित (अनशैड्यूल्ड), प्रलेखी दस्तावेज़, निष्क्रिय खाता (डैड अकाउंट), सामान्य लैजर, ब्याज वारंट इत्यादि।

इसी सन्दर्भ में **बैंकों के क्षेत्र में हिन्दी की तकनीकी शब्दावली** के विकास की प्रक्रिया उल्लेखनीय है। सन् 1963 के राजभाषा अधिनियम 19 जुलाई, 1969 को चौदह बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण, सन् 1973 के राजभाषा नियम और सन् 1980 में छह अन्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण आदि के प्रस्थान-बिन्दु बैंकों में हिन्दी के प्रयोग का आधार बने। सन् 1975 तक विभिन्न बैंकों के मुख्य एवं क्षेत्रीय कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग का समग्र आकलन करते रहने के लिए 'राजभाषा प्रभाग' और 'राजभाषा कक्ष' स्थापित होने लग गए थे। विभिन्न बैंक-शाखाओं में 'हिन्दी-अधिकारियों' की नियुक्ति की जाने लगी। रिज़र्व बैंक की ओर से दो खंडों में बैंकीय कारोबार

सम्बन्धी हिन्दी की तकनीकी शब्दावली के संग्रह सभी बैंकों को उपलब्ध कराए गए हैं।

21 अप्रैल, 1988 को बैंक प्रशिक्षण महाविद्यालयों और प्रशिक्षण केन्द्रों के प्रधानाचार्यों के सम्मेलन (कृषि बैंकिंग महाविद्यालय, पुणे) में दो प्रस्तावों पर विशेष चर्चा हुई—(1) सभी प्रशिक्षण केन्द्र और महाविद्यालय हिन्दी में भी प्रशिक्षण सामग्री तैयार कराएँ और (2) हर प्रकार की सामग्री में एक-सी हिन्दी शब्दावली का प्रयोग किया जाए; अर्थात् बैंक सम्बन्धी हिन्दी शब्दावली में समरूपता हो। अब, बैंकों में सभी यांत्रिक और इलैक्ट्रोनिक सुविधाएँ देवनागरी लिपि में भी उपलब्ध हैं। टंकण यन्त्र, पतालेखी मशीनें, टेलेक्स एवं कम्प्यूटर आदि पर हिन्दी में कार्य करने की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही है। अधिकांश बैंकों ने विशेष पट्टिकाओं या अपनी पासबुकों, पत्रशीर्ष आदि पर यह पंक्ति रेखांकित करके छाप रखी है—**'कृपया सारा बैंकीय कामकाज हिन्दी में करें।'** किसी भी हिन्दी-प्रयोक्ता को आज किसी बैंक-शाखा में हिन्दी-प्रयोग के कारण कोई कठिनाई नहीं होती, बल्कि समय और श्रम की बचत होती है। हर प्रकार की बैंकीय सामग्री हिन्दी में भी सदा उपलब्ध है।

हिन्दी भाषा के प्रयोग के विभिन्न रूपों के स्तर को ऊर्जावान बनाने में भारतीय रेलवे का योगदान सराहनीय है। जब से रेलवे में कम्प्यूटर का प्रयोग शुरू हुआ है, आरक्षण, यात्रा, गाड़ियों के प्रस्थान-पहुँच आदि से सम्बन्धित समूची जानकारी स्वतः ही हिन्दी (देवनागरी) में मिलने लगी है। 'कुर्सीयान' (चेयर कार), 'शयन यान' (Sleeper) जैसे शब्दों का अनुप्रयोग हर वर्ग के आम लोगों में भी हो रहा है।

खेल-जगत की स्थिति कुछ मध्यमार्गीय है। आकाशवाणी और दूरदर्शन पर विभिन्न खेल-समाचारों प्रतियोगिताओं के सीधे प्रसारण आदि से जुड़े हिन्दी के खेल-समीक्षक यद्यपि अपनी भाषा में ठेठ हिन्दी की तकनीकी शब्दावली के प्रयोग की भरपूर कोशिश करते हैं; जैसे बल्ला, गेंद, बल्लेबाजी, गेंदबाज़ी, त्रिकूद (ट्रिपल जंप), लम्बी कूद (लांग जम्प), उँची कूद (हाई जम्प), दौड़/दौड़ें (रन), पारी (इनिंग), अनिर्णीत (ड्रा), शृंखला (सिरीज़), पगबाधा (एल.बी.डब्ल्यू) इत्यादि; तथापि गोल, विकेट, पिच, स्टम्प, अम्पायर—आदि असंख्य अँगरेज़ी शब्द यथावत प्रयुक्त करने पड़ते हैं। कारण यह है कि अधिकांश आधुनिक खेल—क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल, टेबल-टेनिस, बैडमिंटन आदि यूरोप से ही शुरू होकर दुनिया में फैले। साथ ही ये खेल अब किसी एक देश तक सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा पा चुके हैं,

इसलिए इनकी तकनीकी शब्दावली के 'हिन्दीकरण' का आग्रह या प्रयास बहुत वांछनीय नहीं माना जाएगा।

फिर भी, भारत के विभिन्न खेल संगठन और संस्थान, सरकारी खेल-अधिकारी और जनता को खेलों की जानकारी देने के लिए ज़िम्मेदार खेल-विशेषज्ञ—सभी मिलकर, खेलों पर व्यय होने वाली अपार धनराशि का दशमांश भी यदि इनकी तकनीकी शब्दावली के उपयुक्त हिन्दी पर्यायों के निर्माण के लिए खर्च करने का संकल्प ले लें तो यह समस्या सुलझने में अधिक समय नहीं लगेगा।

भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी

हिन्दी को प्रयोजनात्मक रूप में विकसित करने तथा समृद्ध बनाने की दृष्टि से आज सर्वाधिक महत्त्व **सूचना प्रौद्योगिकी** का है। इस सन्दर्भ में आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा मुद्रित पत्रकारिता सम्बन्धी विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ **'सूचना क्रान्ति के विस्फोट'** के रूप में चर्चित **कम्प्यूटर, ई-मेल, इंटरनेट, वेबसाइट** आदि में हिन्दी (देवनागरी) के स्वरूप और अस्तित्व के सम्बन्ध में विशद चर्चा अपेक्षित है।

कुछ दशक पहले तक आम धारणा यही थी जिस देश के पास अधिक सैन्यबल या आर्थिक शक्ति होगी वही विश्व का अग्रणी शक्तिशाली देश माना जाएगा, परन्तु आज, सूचना प्रोद्यौगिकी के विस्फोट ने यह धारणा बदल डाली है। आज, सबसे अधिक मजबूत सूचना-तन्त्र वाला देश ही विश्व-शिरोमणि होने का दावा कर सकता है। सौभाग्य से, इक्कीसवीं सदी की शुरुआत के साथ ही, भारत के युवा बुद्धिजीवियों ने इस सूचना-तकनीक (इन्फार्मेशन टेक्नॉलौजी) के क्षेत्र में दुनिया भर में भारत की धूम मचा दी है। आज विश्व के सर्वाधिक विकसित कहे जाने वाले, हर दृष्टि से समृद्ध देशों में सूचना तकनीक के भारतीय विशेषज्ञों को अपने-अपने देश में आमन्त्रित करने की होड़ मची हुई है।

बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में **'भारतीयों का प्रवेश निषेध'** का सूचनापट लगाने वाले यूरोपीय राष्ट्र आज **'भारत के सूचना-कर्मियों का हार्दिक स्वागत'** करने के लिए अपने पारपत्र (पासपोर्ट), वीज़ा आदि के नियमों को अत्यन्त नर्म बनाने को तैयार हैं, आकर्षक वेतन और सुविधाओं के साथ भारतीय सूचना-कर्मियों के लिए आँखें बिछाए हुए हैं। स्वाभाविक है कि सूचना-तकनीक की इस दौड़ से हिन्दी के विविध प्रयोजनपरक की प्रक्रिया को भी गति मिल रही है।

उल्लेखनीय है कि भारत में **कम्प्यूटर** का आरम्भ, यूरोपीय देशों के बहुत बाद, बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक के आस-पास हुआ। हिन्दी का पहला कम्प्यूटर 'सिद्धार्थ' नवें दशक के शुरू में, नई दिल्ली में आयोजित तृतीय **'विश्व हिन्दी सम्मेलन'** के दौरान सन् 1984 ई. में सामने आया जिसका विकास **'भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान' (आई.आई.टी.) कानपुर** ने (सन् 1983 ई.) किया था। यहाँ के वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने 'ध्वन्यात्मक' आधार पर एक ऐसी तकनीक विकसित की जिससे कम्प्यूटर हिन्दी (देवनागरी) के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं (लिपियों) में भी काम कर सकता था। यह तकनीक **'जिस्ट'** (ग्राफिक्स इंडियन स्क्रिप्ट टर्मिनल) कार्ड कहलाती है। इस कार्ड को कम्प्यूटर के 'केन्द्रीय संसाधक एकांश' (सेंट्रल प्रोसेसिंग यूनिट—सी.पी.यू.) में लगा देने से अँगरेज़ी में काम करने वाला कम्प्यूटर बहुभाषिक हो जाता है। याद रखना चाहिए कि अँगरेज़ी या रोमन लिपि को ही कम्प्यूटर के लिए आदर्श मानने का कोई तकनीकी आधार नहीं है।

हिन्दी (देवनागरी) की वर्णमाला ध्वन्यात्मक होने के कारण, उसे कम्प्यूटर-प्रणाली के अनुरूप बनाने में कोई कठिनाई नहीं थी। आज वही 'जिस्ट-तकनीक' बहुत व्यापक स्तर पर भारतीय भाषाओं (लिपियों) के कम्प्यूटरीकरण का आधार बन चुकी है। इसके मूल में **'इस्की'** (इंडियन स्टैंडर्ड कोड फार इन्फार्मेशन इंटरचेंज) नामक एक मानक कोडिंग प्रणाली है। इससे उच्च प्रौद्योगिकी (Hi-tech) के क्षेत्र में हिन्दी (नागरी) एवं अन्य भारतीय भाषाओं (लिपियों) का भी मार्ग प्रशस्त हो गया है। इसके लिए 'इनस्क्रिप्ट' (इंडियन लैंग्वेज स्क्रिप्ट) नामक ऐसा कुन्जी पटल (की-बोर्ड) विकसित हो चुका है जो हिन्दी (नागरी) के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं लिपियों तथा अँगरेज़ी (रोमन) में भी काम करने और लिप्यंतरण के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है।

'सी-डेक' (सेंटर फार डिवेलपमेंट आफ एडवांस्ड कम्प्यूटिंग : उच्च कम्प्यूटरी विकास केन्द्र), पूना ने **'टैग'** (ट्री एडजाइनिंग ग्राम) पद्धति पर आधारित कम्प्यूटर पर अंगरेजी-हिन्दी अनुवाद विधि का भी विकास कर लिया है। इसके अतिरिक्त, अब कम्प्यूटरों पर काम करने के लिए हिन्दी (नागरी) के अनेक प्रकार के सॉफ्टवेयर उपलब्ध हैं जिनमें अक्षर, आलेख शब्दमाला, शब्दरत्न, मल्टीवर्ड, संगम, देवबेस, नारद, चाणक्य, एप्पल, सुलिपि, भाषा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आज, डॉस, विंडोज और यूनिक्स परिवेश के अन्तर्गत हिन्दी में शब्द-संसाधन और डेटा संसाधन कार्य सम्भव हो गया है। 'स्पैल चैकर' (वर्तनी-संशोधक) और 'ऑन लाइन शब्द कोश'

के साथ-साथ ई-मेल और वेब-प्रकाशन की सुविधा भी प्राप्त है। इस दृष्टि से 'इस्फॉक' (इंटेलीजेंस बेस्ट स्क्रिप्ट फांट कोड), 'लिप्स' (लैंग्वेज, इंडीपेंडेंट प्रोग्राम सबटाइटल्स) की तकनीक भी उल्लेखनीय है जिससे विभिन्न फिल्मों में उपशीर्षक हिन्दी (नागरी) में दिए जाने की सुविधा हो गई है।

मशीनी अनुवाद के लिए 'अनुसारक' (भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर एवं हैदराबाद विश्वविद्यालय द्वारा संयुक्त रूप से विकसित तकनीक) तथा 'मन्त्र' (मशीन असिस्टेड ट्रांसलेशन टूल : सी-डेक, पूना द्वारा विकसित) तकनीक विशेष महत्त्वपूर्ण है। हाल ही में, आई.बी.एम. टाटा कम्पनी ने आर.के. कम्प्यूटर्स के सहयोग से 'हिन्दी डॉस' नामक ऐसी तकनीक का विकास किया है जिसमें 'कमांड' और 'मेन्यु' भी हिन्दी में हैं।

अब तो 'मोटरोला' जैसी कम्पनियों ने (सन् 1997 से) हिन्दी (नागरी) में 'पेजर' का विकास भी कर लिया है। हिन्दी की निरन्तर विकासमान वैज्ञानिक और तकनीकी क्षमता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि देश में करोडों मतदाता-सूचियाँ, उनके परिचयपत्र एवं आम चुनाव सम्बन्धी अन्य सामग्री बड़ी सरलता और तीव्रता से हिन्दी (नागरी) में भी तैयार की जाने लगी है। आज अनेक प्राचीन गौरव ग्रन्थ (क्लासिक्स) सी.डी. (कम्प्यूटर डिस्क; वीडियो कैसेट आदि) के रूप में हिन्दी (नागरी) में उपलब्ध हैं। 'गीता' और 'उपनिषद्' 'अंतरताने' (इंटरनेट) के माध्यम से पढ़े-सुने जा सकते हैं। 'भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान' (आई.आई.टी.) कानपुर के वैज्ञानिकों ने 'गीता सुपर साइट अन्तःक्षेत्र (वेबसाइट) का विकास करके देवनागरी के कम्प्यूटरीकरण का एक आदर्श उदाहरण विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

समस्याएँ और समाधान

उपर्युक्त विशद विवेचन के अनुसार, हिन्दी विविध क्षेत्रों में प्रयोग हिन्दी भाषा के पर्याप्त विकसित और समृद्ध होने के बावजूद भारतीय जन-मानस में 'हिन्दी की अक्षमता, अपूर्णता और तकनीकी न्यूनता' का भ्रम अधिकाधिक बढ़ते जाना निस्सन्देह आश्चर्य और चिन्ता का विषय है। विडम्बना तो यह है कि जिन विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में कभी बड़े जोर-शोर से हिन्दी के माध्यम से विभिन्न विषयों—विशेषतः वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों के शिक्षण की योजनाएँ शुरू की गई थीं, वहाँ भी अब 'अँगरेज़ी माध्यम' को 'अनिवार्य' सा समझा जाने

लगा है। यही स्थिति विभिन्न संस्थानों और कार्यालयों में हिन्दी के अनुप्रयोग की है। इस स्थिति के अनेक कारण हैं। यथा—

1. समस्या उतनी विकट है नहीं जितनी कथित शिक्षित समुदाय या कर्मियों द्वारा बताई जाती है। हिन्दी 'माध्यम' या 'प्रयोग' का ज़िक्र आते ही नाक-भौंह सिकोड़ना एक फैशन-सा बन गया है; असलियत की गहराई तक जाने और वस्तुस्थिति को समझने का समय और धैर्य आज किसी में नहीं हैं।

2. इसका एक कारण हमारे व्यवस्थातन्त्र और विभिन्न इलैक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों द्वारा जाने-अनजाने 'अन्तर्राष्ट्रीयता' का नारा लगाकर भारतीय युवावर्ग में हीनता-भाव का संचार करना भी है। जो ज्ञान-विज्ञान वे निज भाषा-माध्यम से दो-तीन वर्षों में अर्जित कर सकते हैं उसके लिए दसियों वर्षों तक माथापच्ची करने का झमेला वे केवल इसलिए पाले हुए हैं कि अँगरेज़ी के बिना उन्हें प्रतिष्ठा, पदवी या अच्छी नौकरी नहीं मिलेगी।

3. उक्त दोनों समस्याओं के मूल में हमारे देश, समाज और शिक्षा-जगत से जुड़े विद्वानों की लापरवाही है। उन्हें युवा भारत के भविष्य को ठोस और मज़बूत आधार प्रदान करने के लिए कुछ सोचने की फुर्सत ही नहीं। राजनीतिक स्वार्थ, प्रचारोन्मुखी कीर्ति और जैसे-तैसे आर्थिक लाभ अर्जित करने की प्रवृत्ति के कारण वे पूरी ईमानदारी और निष्ठा से हिन्दी के वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के प्रति सजगता नहीं दिखा पाते।

4. एक कारण यह भी है कि भाषा वैज्ञानिक विद्वान भाषा के सैद्धान्तिक चक्रव्यूहों में उलझे रहकर, उसके व्यावाहारिक अनुप्रयोग के प्रति उदासीन हैं। किसी वैज्ञानिक संकल्पना और पारिभाषिक प्रयुक्ति का मूल मन्तव्य क्या है—यह केवल सम्बद्ध विषय का विशेषज्ञ जानता है और उसके लिए हिन्दी में सर्वथा उपयुक्त समतुल्य प्रतिशब्द कौन-सा हो सकता है—कोई भाषा-मर्मज्ञ ही बता सकता है। इन दोनों के सन्तुलित तालमेल के अभाव में, हिन्दी में या तो बहुत क्लिष्ट तकनीकी साहित्य तैयार हो रहा है, या फिर अधकचरा और अर्थ-च्युत शब्द-कौतुक चल रहा है।

5. इससे भी अधिक दोष हिन्दी साहित्य के कथित सर्जकों का है। कुछेक कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास या कथित गुण-दोष-पारखी समीक्षकों की गणना तो हिन्दी साहित्य के 'सशक्त' हस्ताक्षरों में की जाने लगती है किन्तु अथक परिश्रम द्वारा विभिन्न वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों का हिन्दी-अनुवाद करके सच्ची

हिन्दी-सेवा करने वाले साधकों का कहीं भी साहित्यकार-सूची तक में कोई नाम नहीं होता। इसीलिए युवा शब्दकार प्रायः तुक जोड़ने, कहानियाँ गढ़ने और संवाद रचने में तो व्यस्त हैं, हिन्दी के माध्यम से नई पीढ़ी को वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराने की रुचि या फिक्र किसी को नहीं। इस तरह की पाठ्य पुस्तकें लिखने के आग्रह को यह कहकर टाल दिया जाता है—'हिन्दी में इसके लिए उपयुक्त शब्द नहीं है।' यह उचित नहीं है।

पाणिनि के प्रसिद्ध भाष्यकार और व्याकरणचार्य पतंजलि ने कहा है—**''सच्चा लेखक कभी भाषा-शास्त्रियों के पास जाकर यह नहीं कहता कि ''पहले मुझे शब्द दो, तब मैं पुस्तक लिखूँगा।'' वह तो शिक्षार्थियों के लिए जब लिखना शुरू कर देता है तो शब्द अपने-आप उसके पास मँडराने लगते हैं–पहचानने और चुनने का विवेक तथा धीरज होना चाहिए।''**

6. हिन्दी को विविध आयामी भाषा के रूप में विकसित करने की दिशा में एक बाधा हमारी उधारजीवी वृत्ति भी है। कुछ भारतीय मनीषियों की हर बात में अँगरेज़ी का मुँह ताकने की आदत हिन्दी में मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति को पनपने ही नहीं देती। वे भूल जाते हैं कि अँगरेज़ी की अट्टालिका भी लैटिन की नींव पर खड़ी है; फिर हिन्दी को समृद्ध बनाने के लिए संस्कृत का आधार ग्रहण करने में संकोच या झिझक क्यों? जब शब्द विकसित होकर प्रयोग में आने लगेंगे तो उनकी सहजता या क्लिष्टता का विचार किए बिना उनके अभ्यस्त हो जाएँगे।

एक रोचक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। भारत का कोई सामान्य व्यक्ति भी संख्याओं को दस गुना बढ़ाकर अधिकाधिक गिनती तक ले जाना जानता है। हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, नील, महानील (100 नील), पद्म, महापद्म (100 पद्म) शंख, महाशंख (सौ शंख) इत्यादि। बाईस अंकों तक की यह तालिका भारतीयों के लिए अनजानी नहीं। इसके विपरीत, अँगरेज़ी एवं कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं में कुछ दशक पहले तक हजार से ऊपर की संख्या के लिए कोई शब्द नहीं था। अंगरेज़ों के शासन काल में भी अँगरेज़ी में लेक्स (Lacs) करोड़ (Crore) आदि भारतीय शब्दों के रोमन लिप्यंतरण से काम चलाया जाता था। कालान्तर में अँगरेज़ी में मिलियन (दस लाख) और बिलियन (दस करोड) जैसे शब्द गढ़े गए। फिर 'ट्रिलियन' शब्द (दस खरब) अस्तित्व में आया—इससे आगे अब भी गिनती अवरुद्ध है। प्राचीन भारतीय गणितज्ञों, खगोलशास्त्रियों और नक्षत्रविदों की प्रतिभा का बहुत-कुछ अंश अब भी हिन्दी को

संस्कृत से प्राप्त है। उसके रहते हिन्दी को अकिंचन मानना असंगत है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी को बहु प्रयोजनीय भाषा के रूप में विकसित करने के मार्ग में कई समस्याएँ होने पर भी स्थिति एकदम निराशाजनक नहीं है। अनेक प्रतिरोधी तत्वों के बावजूद हिन्दी को बड़ी तीव्रता से उस मंजिल तक पहुँचना है जहाँ विकसित देशों की भाषाएँ पहुँच चुकी हैं। इसकी प्रगति-यात्रा के मार्ग में अवश्य दो शताब्दियों की एक लम्बी खाई है किन्तु आखिर उसे पार तो करना ही होगा—निष्ठा और साधना के सेतु बाँधकर। जगह-जगह मजबूत आधार-स्तम्भ तैयार हो चुके हैं—कुछ और हो रहे हैं—अब केवल उन्हें परस्पर जोड़कर समरूपता के सूत्र में बाँधना शेष है, यह कार्य भी अन्ततोगत्वा सम्पन्न हो ही जाएगा।

देवनागरी लिपि और अंक

'लिपि' का स्वरूप और महत्त्व

'लिपि' शब्द का अर्थ है—'लिखावट'। हम 'भाषा' के रूप में जिन ध्वनियों का उच्चारण करते हैं एवं उन्हें शब्दों-वाक्यों आदि में प्रयोग करते हैं, वे श्रोताओं के कानों तक पहुँचने के बाद अस्तित्वहीन हो जाती हैं। उनकी सार्थकता केवल 'श्रव्य' होने तक सीमित है। भाषा की इन्हीं ध्वनियों को 'दृश्य' रूप में सम्प्रेषित करने अर्थात् भावों और विचारों के संचार का माध्यम बनाने के लिए हम इन्हें कुछ विशेष 'आकृतियों', 'चिह्नों', 'प्रतीकों', 'रेखाओं या चित्राकृतियों' द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इस तरह उच्चरित ध्वनियों वाली यही भाषा 'लिपि' का रूप धारण कर लेती है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि **"भाषा की सभी ध्वनियों के लिए निर्धारित प्रतीक-चिह्नों का सामूहिक नाम लिपि है।"**

इस तथ्य को हम दूसरी तरह से भी समझ सकते हैं—**किसी भी भाषा के लिखित रूप को लिपि कहा जा सकता है।** उदाहरण के रूप में कहा जाए कि इन पृष्ठों में 'देवनागरी लिपि' के सम्बन्ध में जो कुछ भी बताया जा रहा है, उसे यदि कक्षा में, अथवा किसी गोष्ठी-सभा आदि में बोलकर बताया जाता तो सम्प्रेषण का माध्यम जो भाषा होती उसी भाषा का माध्यम तो हम यहाँ, इस विवेचन में भी अपना रहे हैं, परन्तु 'मौखिक' स्तर पर नहीं अपितु 'लिखित' स्तर पर। दूसरे शब्दों में, यहाँ हम अपनी बात किसी विशेष लिपि (देवनागरी) के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस प्रकार 'लिपि' मनुष्य द्वारा अपने भावों, विचारों तथा अनुभवों आदि को सम्प्रेषित करने का 'दृश्यात्मक' माध्यम है। वैसे दृश्यात्मक माध्यम तो चित्र, मूर्ति एवं अन्य कलाएँ भी हैं, किन्तु वे माध्यम सूक्ष्म, संकेतात्मक और अस्पष्ट हैं। लिपि भाषा की हरएक व्यक्त ध्वनि को एक सुनिश्चित आकृति के रूप में प्रत्यक्ष कर

देती है। एक प्रकार से, 'लिपि' को भाषा का प्रत्यक्ष, लिखित पर्याय ही माना जाता है।

भाषा और लिपि का अन्तर और अन्तःसम्बन्ध

मानव-मन की अनन्त अनुभूतियों के संचार-सम्प्रेषण के विभिन्न माध्यमों में 'भाषा' और 'लिपि' दोनों का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'भाषा' और 'लिपि'—दोनों में व्यक्त ध्वनि-संकेतक प्रयोग में लाए जाते हैं। दोनों का मूलभूत आधार मानव-मुख से उच्चरित ध्वनियाँ हैं। अन्तर यह है कि भाषा में ये ध्वनियाँ 'श्रव्य' रूप में व्यक्त होती हैं, जबकि लिपि में वही ध्वनियाँ 'दृश्य' रूप ले लेती हैं। भाषा 'मौखिक' रहती है और 'लिपि' लिखित। भाषा का क्षेत्र सीमित है और लिपि का विस्तृत। भाषा समय और स्थान के दायरे में बँधी रहती है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास या कबीर-सूर-तुलसी ने जो कुछ गा-गाकर सुनाया उसे केवल उनके समय में उनके सामने उपस्थित लोग ही सुन पाए, जबकि 'लिपि' के द्वारा हम आज हजारों वर्ष बाद भी उनके काव्य का रसास्वादन कर रहे हैं। 'लिपि' समय और स्थान की सीमाओं को लाँघकर हर युग में, हर समय में, हर स्थान पर पहुँच सकती है। इस दृष्टि से, 'लिपि' का दायरा 'भाषा' से कहीं अधिक विस्तृत प्रतीत होता है। 'लिपि' के सहयोग से ही भाव और विचारों तथा ज्ञान-विज्ञान को लम्बे समय तक स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है।

दूसरी ओर, एक अन्य तथ्य भी यहाँ उल्लेखनीय है। भाषा का संचार हर शिक्षित-अशिक्षित व्यक्ति तक समान रूप से हो सकता है। वर्ष-भर के छोटे शिशु से लेकर वयोवृद्ध मनुष्यों तक—स्त्री-पुरुष, साक्षर-निरक्षर—सभी भाषा के माध्यम से जीवन का कार्य-कलाप चलाते हैं। भारत में, जहाँ लगभग आधी जनता पढ़ना-लिखना नहीं जानती, वह लिपि के बिना भी, मात्र भाषा-संचार द्वारा जीवन, समाज और राष्ट्र की धारा से जुड़ी है। फिर, अब तो इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के माध्यम से उच्चरित ध्वनियों (भाषा) को भी 'टेप' में सुरक्षित करके, हर युग तथा हर स्थान पर उसका उपयोग किया जा सकता है।

फिर भी, 'लिपि' अन्य कई पहलुओं से 'भाषा' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में सबसे पहला उल्लेखनीय आयाम यह है कि 'लिपि' ही किसी 'भाषा' को उसके पूर्ण शुद्ध, मूल वास्तविक रूप में सुरक्षित रखती है। सहस्रों वर्ष पुराना वैदिक, प्राकृत. अपभ्रंश साहित्य आज भी यदि अपने मूल रूप में हमें उपलब्ध है तो केवल 'लिपि' के कारण। विश्व-भर में ज्ञान-विज्ञान, शिक्षाशास्त्र,

प्रौद्योगिकी-तकनीकी, शिक्षा, प्रशासन, न्याय-विधि, राजनीति, समाज, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, चिकित्सा आदि अनेकानेक विषयों की सामग्री 'लिपि' के माध्यम से उपलब्ध है। किसी भी प्रकार का अध्ययन आज 'लिपि' के माध्यम से ही सम्भव है।

लिपि के द्वारा ही कथन को प्रामाणिक और उपयोगी बनाया जा सकता है। मौखिक बात का कोई सर्वमान्य अथवा वैधानिक महत्त्व नहीं होता। साहित्य और कला अथवा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में चिन्तकों और विद्वानों के कथन मौखिक होने पर पाठ का अन्तर पैदा करते हैं। ऐसे में कभी-कभी अर्थ का अनर्थ होने का खतरा बना रहता है। लिपिबद्ध होकर वही 'कथन' स्थायी और प्रामाणिक रूप ग्रहण कर लेता है और सर्वसम्मत उपयोग का साधन बन जाता है।

'टंकण' और 'मुद्रण' की जो कला आज अधिकाधिक विकसित होकर, हर समाज और देश के जीवन का एक अनिवार्य एवं अभिन्न अंग बनी हुई है, उसका मूल आधार भी 'लिपि' ही है। परन्तु उसी 'लिपि' का मूल आधार है—'भाषा'। जिस प्रकार धरती पर ही वनस्पतियाँ उग सकती हैं, उसी प्रकार 'भाषा' की भूमि पर ही 'लिपि' आकार ग्रहण कर सकती है।

इस प्रकार, भाषा और लिपि में समानता और भिन्नता के विविध आयाम होते हुए भी, दोनों का अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध स्पष्ट है।

'देवनागरी लिपि' की विकास-परम्परा

'लिपि' सबसे पहले कब अस्तित्व में आई?—इस प्रश्न का निश्चित उत्तर आज तक कोई भी भाषावैज्ञानिक नहीं खोज पाया। जिस प्रकार 'भाषा' को अनेक लोग 'ईश्वरीय' देन मानते हैं और 'सृष्टि' अथवा 'जीव' के 'जन्म' के साथ ही 'भाषा' का जन्म स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार वे तथा उनके अन्य समर्थक 'लिपि' को भी 'दैवी' वरदान कहते हैं। किन्तु यह मान्यता किसी भी तर्क के आधार पर प्रमाणित नहीं होती। ऐसा होता तो जैसे बच्चा एक वर्ष की आयु तक आते-आते 'बोलने' लगता है, वैसे ही 'लिखने' भी लगता। 'लिपि' का आविष्कार निश्चय ही मानव-जाति ने अपने अस्तित्व में आने के सहस्रों-लाखों वर्षों बाद किया होगा। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है'—इस सिद्धान्त-सूत्र के अनुसार, जैसे मनुष्य ने अपनी सुविधाओं के लिए अन्य साधन खोज निकाले, या गढ़ लिए, उसी प्रकार अपने भावों, विचारों तथा अनुभवों को बिना प्रत्यक्ष साक्षात्कार के दूसरों तक पहुँचाने के लिए 'लिपि' का आविष्कार किया। इसका प्रमाण यह है कि विश्व-भर में जो भी प्राचीन अवशेष प्राप्त हैं उनमें 'लिपि' का स्वरूप कठिन से सरल और सरल से सरलतम एवं वैज्ञानिक रूप ग्रहण करता प्रतीत होता है।

सबसे पहले मनुष्य द्वारा **'चित्र-लिपि'** के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के वनवासी और गिरिवासी लोग जो भाव या विचार व्यक्त करना चाहते थे उसके प्रतीक-रूप में चित्र बना देते थे। 'प्यास' के लिए 'नदी', 'छाया' के लिए 'पेड़' आदि का रेखाचित्र बना देना उसके सम्प्रेषण का आधार थे। ये चित्र पूर्ण या सजीव न होकर, मात्र रेखाओं से संकेतिक होते थे।

इसके उपरान्त **सूत्र-लिपि** के संकेत मिलते हैं। छोटे-बड़े धागों या विभिन्न आकार की रस्सियों, पेड़ की पतली छालों आदि को घुमा-फिराकर अथवा उनमें कम-अधिक दूरी पर गाँठें बाँधकर ऐसी आकृतियाँ बना दी जाती थीं जिससे कोई-न-कोई विचार संकेतिक हो जाता था। 'गाँठ बाँध लेना।' (अच्छी तरह याद रख लेना) मुहावरा शायद इसी लिपि की देन रहा होगा।

इसी क्रम में झंडियों, फूलों अथवा इन वस्तुओं द्वारा कुछ प्रतीक-संकेतों के सम्प्रेषण का भी उल्लेख मिलता है। इसे भाषावैज्ञानिकों ने **'प्रतीकात्मक लिपि'** का नाम दिया है। फिर एक ऐसी **'भावमूलक लिपि'** अस्तित्व में आई जिसमें विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति कुछ विशेष लक्षणों के सूचक चित्र या आकार बनाकर की जाती थी। जैसे 'प्रकाश' के लिए 'सूर्य', 'दुःख' के लिए 'आँसू', 'चलने' के लिए 'पैर' की आकृति का रेखांकन कर देना।

उपर्युक्त लिपियों के बहुत समय पश्चात् **'आक्षरिक लिपि'** का आविष्कार तब हुआ जब मनुष्य के ज्ञान का दायरा पर्याप्त विस्तृत होने लगा। इस सम्बन्ध में, सबसे पहले जिस लिपि के प्रमाण उपलब्ध हैं, वह है—**'सिन्धु घाटी की लिपि'**। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय उपमहाद्वीप के 'हड़प्पा' तथा 'मोहन-जो-दड़ो' नामक स्थान पर जो खुदाई हुई, उसमें इसके बहुत से नमूने प्राप्त हुए हैं। इस लिपि को न तो पूरी तरह 'चित्र लिपि' कहा जा सकता है और न ही 'अक्षर-लिपि'। इसलिए अधिकतर भाषा-वैज्ञानिक इसे 'संधिकालीन' अथवा 'संक्रमण कालीन' लिपि (ट्रांजीशनल स्क्रिप्ट—Transitional Script) कहते हैं—अर्थात् यह लिपि पुरानी अपूर्ण लिपियों की समाप्ति तथा नई अक्षर-लिपि की शुरुआत की परिचायक है। **चीनी लिपि** का विकास **'सिन्धु धाटी की लिपि'** के बाद माना जाता है। उसके पश्चात् ही, वास्तव में संसार की वे वर्तमान लिपियाँ अस्तित्व में आईं जो या तो **'अक्षरात्मक'** हैं, या **'वर्णात्मक'**।

'अक्षरात्मक' लिपियाँ वे हैं जिनमें सभी ध्वनियों के चिह्न एक 'स्वर' के सहारे से उच्चरित होते हैं। 'देवनागरी' इसी प्रकार की 'अक्षरात्मक' लिपि है। इसकी सभी ध्वनियाँ 'अ' स्वर के संयोग से उच्चरित होती हैं। जैसे—'कमल' में 'क् +

अ, म् + अ, ल् + अ' ध्वनियों के संयोग से तीन 'अक्षर' हैं, पर वर्ण छः हैं।

वर्णात्मक लिपियाँ वे हैं, जिनके ध्वनि-चिह्न स्वतन्त्र रूप से उच्चरित होते हैं। जैसे—'रोमन' लिपि में ए, बी, सी (A, B, C) आदि सभी वर्ण स्वतन्त्र रूप से बोले जाते हैं। इनके उच्चारण में किसी अन्य वर्ण की सहायता आवश्यक नहीं है। ये तीन ध्वनियाँ ही तीन वर्ण हैं।

भारत में 'लिपि' का विकास प्रायः 'अक्षरात्मक' आधार पर ही हुआ। जो प्रमाण अब तक उपलब्ध हुए हैं, उनके आधार पर सभी विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि **'ब्राह्मी लिपि' भारत की सबसे प्राचीन लिपि है।** इसी से बाद में भारत की अन्य सभी वर्तमान लिपियों का विकास हुआ है जिनमें से 'देवनागरी' **सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण** है।

ब्राह्मी से **देवनागरी** तक की विकास-परम्परा का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है—

ब्राह्मी : अनेक पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक ब्राह्मी अथवा भारत की सबसे पहली लिपि को ढाई हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं मानते। किन्तु जिस 'वैदिक' साहित्य को संसार भर के विद्वान पाँच हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन मानते हैं, उसमें 'लिपि' के स्पष्ट संकेत मिलते हैं—

(1) ऋग्वेद (6-53-7) में 'आलेख' (Script) का उल्लेख है जो 'लिपि' का पर्याय है।

(2) उसी (10-71-4) में भाषा को 'श्रव्य' के साथ 'दृश्य' भी बताया गया है। 'दृश्य भाषा' अर्थात् 'लिपि'।

(3) यजुर्वेद (15-4) में 'अक्षरबद्ध छन्द' का वर्णन है।

(4) अथर्ववेद (20-23-8) में 'प्राचीन लेख' शब्द आया है जो 'लिपि' के बहुत पहले से विद्यमान होने का प्रमाण है।

इसी प्रकार संस्कृत के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' में भारतीय 'लिपि' के स्पष्ट प्रमाण हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में जब हनुमान अशोक वाटिका में सीता को 'रामनाम से अंकित अँगूठी' दिखाते हैं तो सीता को उन पर विश्वास हो जाता है। यह 'अंकन' लिपि में ही तो था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि रामायण-काल में स्त्रियाँ तो शिक्षित थीं ही, वनवासियों को भी अक्षर-ज्ञान था। 'महाभारत' को तो महर्षि व्यास ने बोल-बोलकर शीघ्रलिपिक 'गणेश' से लिखवाया ही था।

बाद में, बुद्ध और अशोक से बहुत पहले, चीन, यूनान आदि से आने वाले

यात्रियों ने भारत में बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्य होने का उल्लेख किया है। कई सौ ग्रन्थ तो वे अपने साथ ले भी गए। यह सब 'लिपि' के बिना सम्भव नहीं था। बौद्ध गुफाओं तथा प्राचीन जैन विहारों में अनेक लेख खुदे होने के ऐतिहासिक प्रमाण तो मिलते ही हैं, साथ ही बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अनेक भारतीय लिपियों के नाम भी गिनाए गए हैं। इनमें 'ब्राह्मी' का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है। (देखिए, बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' तथा जैन ग्रन्थ 'पद्मवर्णासूत्र'।) स्पष्ट है कि **'ब्राह्मी लिपि'** अत्यन्त प्राचीन भारतीय लिपि है।

'ब्राह्मी' शब्द का अर्थ है–'वैदिकी'। वैदिक साहित्य में 'ब्राह्मण' ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। वैसे भी वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'ब्रह्म' का विशद विवेचन है। अतः इसका नाम 'ब्राह्मी' उपयुक्त ही है।

खरोष्ठी : भारत की दूसरी महत्त्वपूर्ण, प्राचीन लिपि **'खरोष्ठी'** मानी जाती है। प्राचीन भारतीय व्यापारी इसी के माध्यम से विदेशों में व्यापारिक सम्पर्क स्थापित करते थे। पहले यह लिपि दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी (जैसे आजकल भी 'फ़ारसी' लिपि लिखी जाती है), बाद में इसे 'ब्राह्मी' लिपि के समान बाएँ से दाएँ लिखा जाने लगा।

'खरोष्ठी' नाम के अनेक आधार बताये जाते हैं। 'खर' शब्द का अर्थ है–'गधा' तथा 'ओष्ठ' का अर्थ है–'होंठ'। कुछ विद्वान इसे भारत के सीमावर्ती उन प्रदेशों के आदिवासी लोगों की लिपि मानते हैं जिनके 'होंठ' गधे के होंठ जैसे होते थे। कुछ पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों का मत है कि इस लिपि का प्रयोग पहले प्रायः 'गधे' की खाल पर किया जाता था। कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि इस लिपि के वर्ण गधे के होंठों की तरह लम्बाई और फैलावट वाले थे, अतः इसे 'खरोष्ठ' कहा गया। **परन्तु सबसे संगत मत यह प्रतीत होता है कि 'खरोष्ठ' मूल रूप से एक 'हिब्रू' शब्द है जिसका अर्थ है–'लिखावट'।**

यह लिपि भारत में अधिक प्रचलित न हो सकी। बाद में इसी में 'फ़ारसी' आदि आर्मेनिक लिपियों का विकास हुआ।

भारत में 'ब्राह्मी' लिपि ही अपने भाषावैज्ञानिक गुणों के कारण प्रचलित और लोकप्रिय हुई। इसी से भारत की अन्य लिपियों का विकास हुआ।

सबसे पहले **'ब्राह्मी'** लिपि के दो रूप भारत के दक्षिण और उत्तर में प्रचलित हुए–(1) **दक्षिणी ब्राह्मी,** (2) **उत्तरी ब्राह्मी।**

'दक्षिणी ब्राह्मी' से दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि आधुनिक लिपियों का विकास हुआ।

'उत्तरी ब्राह्मी' से सर्वप्रथम **'गुप्त लिपि'** अस्तित्व में आई। इसका यह नाम मगध साम्राज्य के 'गुप्त' वंश के शासकों के आधार पर पड़ा।

गुप्त लिपि ही जब साधारण प्रयोग में कुछ टेढ़े-मेढ़े अक्षरों वाली हो गई तो उसे **'कुटिल लिपि'** कहा जाने लगा। अर्थात् 'गुप्त लिपि' के पश्चात् उत्तर भारत में 'कुटिल लिपि' प्रचलित हुई।

इसी से, बाद में **'शारदा लिपि'** का विकास हुआ। 'शारदा' (अर्थात् सरस्वती) काश्मीर के विद्वानों और पण्डित-वर्ग की आराध्या देवी रही है। उन्होंने ही 'कुटिल लिपि' को कुछ सौम्य-सुन्दर रूप में ढालकर इस नई लिपि को प्रचलित किया। अतः इसे 'शारदा लिपि' कहा गया।

काश्मीर से इतर, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, कुरुदेश आदि अन्य भारतीय क्षेत्रों में 'कुटिल लिपि' से जो नई लिपि विकसित हुई वह **'प्राचीन नागरी'** कहलाती है। इसी से वर्तमान **'देवनागरी'** के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, बँगला, कैथी, महाजनी आदि लिपियों का विकास हुआ है।

संक्षेप में 'देवनागरी लिपि' की विकास-परम्परा की रूपरेखा इस प्रकार समझी जा सकती है–

(1) आक्षरिक लिपि, (2) सिन्धु घाटी की लिपि, (3) ब्राह्मी लिपि (गुप्त लिपि), (4) कुटिल लिपि (शारदा लिपि), (5) प्राचीन नागरी, (6) देवनागरी लिपि।

'देवनागरी लिपि' का सामान्य परिचय

भारत में लिपि की विकास-परम्परा के विवरण से स्पष्ट है कि 'देवनागरी लिपि' का उद्भव 'ब्राह्मी' लिपि से हुआ। सावतीं शताब्दी में भारत के अंतिम एकछत्र सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् जब देश की केन्द्रीय एकता छिन्न-भिन्न हो गई तो इसका प्रभाव 'लिपि' पर भी पड़ा। उत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग लिपियाँ विकसित हुईं। उनमें से तीन प्रमुख थीं–(1) शारदा लिपि, (2) कुटिल लिपि और (3) नागर लिपि। 'देवनागरी' 'नागर' लिपि का ही परवर्ती विकसित रूप है।

'देवनागरी' लिपि के **सर्वप्रथम प्रयोग** का प्रमाण **सातवीं शताब्दी** से ही, साम्राट् हर्षवर्धन के समय से मिलने लगता है। **'इस युग की नागरी लिपि अत्यन्त अलंकृत है और सम्राट का हस्ताक्षर तो प्राचीन नागरी का उत्कृष्ट नमूना है'** (डॉ. उदयनारायण तिवारी, पाणिनि के उत्तराधिकारी, पृ. 104) इसी समय के आसपास, अर्थात् सातवीं-आठवीं शताब्दी में गुजरात के राजा जयभट्ट के एक शिलालेख में देवनागरी

का प्रयोग मिलता है। आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजाओं तथा नवीं शताब्दी में बड़ौदा-नरेश ध्रुवराज के शासन-काल में भी 'देवनागरी लिपि' व्यवहार में लाई जाती थी।

दसवीं शताब्दी तक 'देवनागरी' पंजाब से बंगाल तक तथा उत्तर में नेपाल तक और दक्षिण में भी केरल से आगे श्रीलंका तक प्रयुक्त होने लग गई थी।

'देवनागरी' के प्रचार-प्रसार और महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि विदेश से आए आक्रमणकारी **महमूद गजनवी ने भी अपनी मुद्राओं (सिक्कों) पर 'देवनागरी' में अपना नाम खुदवाया।** सन् 1027-28 ई. में लाहौर की टकसाल से ढलने वाले सिक्कों के एक तरफ संस्कृत भाषा और **'देवनागरी लिपि'** में लिखा—**'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवार नृपति महमूद'**। इन्हीं सिक्कों के किनारों पर भी **'देवनागरी लिपि'** में खुदा है—**'अचं टंकं हत महमूदपुर संवती 418।'** (यह इस्लामी सम्वत् हिजरी है।)

इसी प्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में गुजरात, राजस्थान तथा महाराष्ट्र में ताड़पत्रों पर अंकित **'देवनागरी'** लेख भी प्राप्त हुए हैं। इसके बाद तो **'देवनागरी'** शासकों, सन्तों, जोगियों, भक्तों, कवियों और साहित्यकारों की सामान्य प्रचलित लिपि बन गई। मुग़ल शासन के दौरान फ़ारसी लिपि के कारण, इसकी विकास-गति कुछ धीमी हुई, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी से राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों के साथ इसे भी प्रोत्साहन मिला। मालवीयजी ने उत्तर प्रदेश में तथा अयोध्या प्रसाद खन्नी ने बिहार में इसे अदालती लिपि बनवाया। अपनी इसी क्षमता और समृद्धि के कारण ही आज 'देवनागरी' एक मान्य संवैधानिक राष्ट्रीय लिपि है। इसलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343, खण्ड-1, भाग-क में कहा गया है—भारत संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।

'देवनागरी' : नामकरण का आधार

'देवनागरी लिपि' पिछले लगभग एक हजार वर्ष से, भारत के अधिकांश भागों में प्रचलित है। पिछली लगभग डेढ़ शताब्दी से तो विदेशों में भी इसका प्रयोग एवं मुद्रण हो रहा है। इसका नाम 'देवनागरी' कैसे पड़ा, इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं—

1. भारतवासी आरम्भ से ही आस्थावादी और ईश्वरवादी रहे हैं। ब्राह्मी के बाद, इसी (देवनागरी) लिपि में सर्वप्रथम और सर्वाधिक धार्मिक (देव-विषयक) और शिष्ट (नागर) साहित्य लिपिबद्ध हुआ, इसलिए इसे 'देवनागरी' कहा गया।

2. कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि गुजरात के 'नागर' (संभ्रान्त, उच्च स्तर के, बहुशिक्षित और विशिष्ट विद्वान) ब्राह्मणों ने इस लिपि को विकसित तथा प्रचलित किया, इसलिए यह 'देवनागरी' कहलाई।

3. कतिपय विद्वान इस लिपि का 'नगरों' में ही अधिक प्रचलित होना इससे 'देवनागरी' नाम का आधार मानते हैं, परन्तु यह मत अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्राचीन समय में ग्रन्थ-लेखन का कार्य नगरों की अपेक्षा वनों, तपोवनों, आश्रमों आदि में अधिक होता था।

4. 'देवनागरी' नाम का एक अन्य आधार या बताया जाता है कि जिस प्रकार भारतवासी संस्कृत को 'देववाणी' मानते हैं, उसी प्रकार संस्कृत ग्रन्थों को लिखने में प्रयुक्त होनेवाली 'नागरी' 'देवनागरी' कहलाने लगी।

5. एक विद्वान की धारणा यह है कि 'देवनागरी' अक्षरों का विकास वास्तव में 'देवनागर' नामक तान्त्रिक यन्त्र (चौकोर आकृति के तावीज जैसे मन्त्रलिखित पदार्थ) के अनुकरण पर हुआ। उन्हीं यन्त्रों के आधार पर जो चिह्न बनाए गए, वे 'देवनागर' कहलाए। उन चिह्नों से ही 'देवनागरी' लिपि विकसित हुई।

6. अनेक विद्वान शिक्षा और विद्या के प्राचीन केन्द्र 'काशी' के पुराने नाम 'देवनगर' के आधार पर इस नामकरण को उचित बताते हैं। उनके विचार में 'काशी' अर्थात् 'देवनगर' से इस लिपि का विकास हुआ है।

7. कुछ अन्य विद्वान मगध के प्राचीन केन्द्र 'पाटलिपुत्र' से इस नाम का सम्बन्ध जोड़ते हैं कि इसे पहले 'नगर' कहा जाता था और यहाँ के पराक्रमी शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय 'देव' की उपाधि से विभूषित थे। इस प्रकार 'देव' की 'नगर' (पाटलिपुत्र) से विकसित होनेवाली लिपि का नाम 'देवनागरी' प्रसिद्ध हुआ।

वास्तव में उपर्युक्त सभी मत केवल अनुमानों पर आधारित हैं। 'नागर' अर्थात् 'संभ्रान्त-शिष्ट-सुशिक्षित विद्वान-पण्डितों द्वारा 'देववाणी' संस्कृत की रचनाओं को लिखने के लिए विकसित लिपि को 'देवनागरी' कहने की मान्यता सबसे अधिक संगत प्रतीत होती है।

'देवनागरी लिपि' की प्रमुख विशेषताएँ

'देवनागरी' विश्व की अन्य प्रचलित लिपियों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक, सुसंगत, सरल, सुन्दर, समृद्ध और समर्थ है। उसकी इन विशेषताओं को भली-भाँति स्पष्ट करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में किसी आदर्श लिपि के मूलभूत तत्त्व क्या हैं? प्रसिद्ध विद्वान श्री शं.दा. चितले ने अपनी पुस्तक 'देवनागरी

लिपि : स्वरूप, विकास और समस्याएँ' तथा हिन्दी के भाषावैज्ञानिक डॉ. उदयनारायण तिवारी ने 'पाणिनि के उत्तराधिकारी' नामक ग्रन्थ में 'लिपि के मानकीकरण' के ये आधार बताए हैं–

(1) एक ध्वनि को व्यक्त करने के लिए एक चिह्न हो।

(2) एक चिह्न केवल एक ध्वनि का बोध हो।

(3) मात्रा एवं वर्ण-बोधक चिह्न इतने भिन्न हों कि किन्हीं दो चिह्नों के स्वरूप में परस्पर कोई भ्रम न हो।

(4) चिह्न सुन्दर और कलात्मक होने के साथ-साथ आधुनिक लेखन और मुद्रण के यान्त्रिक साधनों के लिए सरलता से अपनाए जा सकें।

इसके अतिरिक्त जहाँ अनेक लिपियाँ प्रचलित हों वहीं सामान्य लिपि के रूप में अपनाई जानेवाली लिपि की कतिपय अन्य विशेषताएँ भी अपेक्षित हैं; यथा–

(5) देश की अधिकांश जनता उस लिपि से परिचित हो।

(6) देश में प्रचलित अन्य लिपियों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

(7) उस लिपि के वर्ण प्रचलित लिपियों के वर्णों के अनुरूप हों तथा उसकी वर्णमाला का क्रम भी अन्य लिपियों के समान हो।

(8) उस लिपि की देश में प्रतिष्ठा हो तथा जनता का उससे भावात्मक सम्बन्ध हो।

इन तथ्यों के आलोक में कहा जा सकता है कि किसी भी भाषा को उसी लिपि में लिखना आदर्श है जिसमें (1) उस भाषा की सभी ध्वनियों को व्यक्त करनेवाले चिह्न हों। (2) एक ध्वनि के लिए एक चिह्न हो और एक चिह्न केवल एक ध्वनि का बोध हो। (3) लेखन और उच्चारण में एकरूपता, सुस्पष्टता, और विभ्रांति हो। (4) लिपि स्वदेशी हो तथा देश के जातीय जीवन, संस्कृति और इतर लिपियों से संस्कारतः जुड़ी हुई हो। (5) आधुनिक यान्त्रिक लेखन की सुविधाओं का उपयोग कर पाने की क्षमता भी उसमें हो।

'आदर्श (अथवा मानक) लिपि' की उपर्युक्त कसौटी के आधार पर यदि हम 'देवनागरी लिपि' की परीक्षा और समीक्षा करें तो उसकी अनेक विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं। उनका संक्षिप्त विवेचन आगे किया जा रहा है–

(1) देवनागरी लिपि में कुछ विशिष्ट गुण हैं जिनके कारण यह देश के अधिकांश भाग में लोकप्रिय रही है। इसकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि उनके ध्वनि-चिह्न संस्कृत व्याकरण के अनुसार वैज्ञानिक रूप से इस प्रकार वर्गीकृत हैं कि एक स्थान विशेष से उच्चरित होनेवाले अक्षर एक ही वर्ग में सम्मिलित हैं। उदाहरणतः मनुष्य

के मुख-विवर में से ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होनेवाले स्थानों का यदि वैज्ञानिक विवेचन किया जाए तो उसका क्रम इस प्रकार होगा—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दंत, ओष्ठ एवं नासिका। देवनागरी लिपि की अक्षरमाला के अक्षर भी इसी क्रम से वर्गीकृत हैं। उदाहरणतः

कण्ठ से उच्चरित होनेवाली ध्वनियाँ	—अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह
तालु ” ”	—इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, य
मूर्धा ” ”	—ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष
दंत ” ”	—त, थ, द, ध, न, ल, स
ओष्ठ ” ”	—उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म
नासिका से उच्चरित होनेवाली ध्वनियाँ	—ङ, ञ, ण, न, म
कण्ठतालु ” ”	—ए, ऐ
कण्ठोष्ठ ” ”	—ओ, औ
दंतोष्ठ ” ”	—व

अन्य किसी भी भाषा की लिपि में वर्णमाला का इस प्रकार का वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं मिलता।

(2) नागरी लिपि की दूसरी विशेषता यह है कि इसके अक्षरों के नाम तथा इनके लिखित एव उच्चरित रूप में भिन्नता नहीं है जैसा कि अन्य लिपियों में है। उदाहरणतः रोमन लिपि में 'उ' की ध्वनि का बोध 'यू' (u) अक्षर से भी होता है (P U T) और द्वित्व 'ओ' (OO) से भी (FOOT)। इसके अतिरिक्त 'इ' के लिए कहीं रोमन लिपि का 'इ' (E) अक्षर प्रयुक्त होता है। BEGIN कहीं आई (I) (THIS)। साथ ही एक अक्षर कई ध्वनियों का सूचक है। जैसे—(u) 'अ' की ध्वनि भी देता है। (B U T) और 'उ' की भी (P U T)। 'सी' (C) से कभी 'स' (Central) का बोध होता है, कभी 'च' का (CHAIR) और कभी 'क' (CAT)। देवनागरी लिपि में ऐसी अवैज्ञानिकता नहीं है। विश्व-भर की भाषाओं की कोई ऐसी ध्वनि नहीं जिसके उच्चारण का सूचक अक्षर देवनागरी में न हो जबकि अनेक भारतीय भाषाओं की ध्वनियों के लिए कुछ पाश्चात्य लिपियों में कोई भी अक्षर नहीं है। अरबी, फारसी, एवं अँगरेजी की कुछ ध्वनियों के लिए यदि पहले देवनागरी में उपयुक्त चिह्न नहीं थे, तो अब तनिक संशोधन से संभव हो गए हैं। जैसे—'कालेज' या 'डाक्टर' में आधे ओ (O) की ध्वनि सूचित करने के लिए 'आ' की मात्रा (ा) पर अर्द्धचन्द्र (ˇ) का चिह्न लगा दिया जाता है। 'जेड' (ज़) की ध्वनि के लिए ज के नीचे बिंदु का प्रयोग कर दिया जाता है। इसी प्रकार फ़ारसी शब्द क़लम, ख़ास,

ग़रूर, ज़ोर, फ़ैसला आदि का सही उच्चारण और रूप प्रस्तुत करने के लिए मूल ध्वनियों—क, ख, ग, ज, फ—के नीचे बिंदू लगाकर, पाँच नई ध्वनियाँ शामिल कर ली गई हैं।

दूसरी ओर, 'देवनागरी लिपि' का हर अक्षर अपने नामवाली ध्वनि के लिए ही प्रयुक्त होता है। 'च' की ध्वनि 'च' ही है। 'फारसी' में 'च' ध्वनिवाले अक्षर का नाम 'चे' है और 'जीम' अक्षर से 'ज' की ध्वनि का बोध होता है।

(3) अक्षरों के क्रम की वैज्ञानिकता से सम्बन्धित 'देवनागरी' की यह विशेषता भी उल्लेखनीय है कि इसमें पहले क्रमानुसार स्वर रखे गए हैं। कंठ से श्वास सीधे स्वरों के रूप में निकलती है। उसके पश्चात् ही व्यंजनों का क्रम है। रोमन लिपि में कोई स्वर कहीं है और कोई कहीं। ए (A) सबसे पहले है तो ई (E) पाँचवें क्रम पर। आई (I) आठवें और 'ओ' (O) चौदहवें क्रम पर है।

(4) 'देवनागरी लिपि' की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें जैसा लिखा जाता है, वैसा ही शुद्ध पढ़ा जाता (उच्चरित हो सकता) है तथा जैसे संसार की किसी भी भाषा का कोई शब्द बोला जाता है अर्थात् उच्चारित होता है, वैसे ही शुद्ध रूप में उसे लिपिबद्ध किया जा सकता है। 'अजमेर' शब्द देवनागरी में 'अजमेर' ही लिखा जाएगा, जबकि रोमन लिपि में AJMER को कोई 'अजमेर' 'आजमर' आदि भी उच्चरित कर सकता है। PUT और BUT में वर्तनी एक-सी है, केवल 'P' और 'B' में अंतर है, पर उच्चारण एक-सा नहीं होता। पहले का उच्चारण 'पुट' और दूसरे का 'बट' होता है। रोमन लिपि में NIGHT भी 'नाईट' उच्चरित होता है और KNIGHT भी। 'देवनागरी लिपि' में यह अवैज्ञानिकता नहीं।

(5) 'मात्रा' व्यवस्था भी 'देवनागरी लिपि' की उल्लेखनीय विशेषता है। 'अ' को छोड़कर, अन्य सभी स्वरों की ध्वनि को अन्य वर्णों के साथ उच्चरित करने के लिए, उन्हें (स्वरों को) नहीं लिखना पड़ता, बल्कि उनकी मात्रा से वही ध्वनि उच्चरित हो जाती है। उदाहरणतया 'अमेरिका' शब्द में 'म' के बाद 'ए' ध्वनि बोली जाती है और 'र' के साथ इ तथा 'क' के साथ 'आ' ध्वनि का उच्चारण होता है, पर इन्हें े, ि और ा से सूचित कर दिया जाता है। 'रोमन' लिपि की भाँति M के बाद E और R के बाद I या K के बाद A अर्थात् पूरा वर्ण नहीं लिखना पड़ता। यदि हम देवनागरी में 'अमएरइकआ' लिखेंगे तो उच्चारण भी अमएरइकआ होगा, 'अमेरिका' नहीं।

(6) उपर्युक्त विशेषता के अन्तर्गत ही एक अन्य विशेषता का उल्लेख किया जा सकता है। वह यह है कि 'देवनगरी लिपि' में ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ) में तनिक-

सा परिवर्तन करके ही, इन्हें दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ) बनाया जा सकता है। इसी प्रकार 'ए' और 'ओ' में केवल एक ` की मात्रा बढ़ाकर 'ऐ' 'औ' की ध्वनि साकार हो जाती है।

(7) व्यंजनों को जोड़कर (संयुक्त रूप में) लिखने कि व्यवस्था केवल 'देवनागरी लिपि' की विशेषता है। इससे उच्चारण की शुद्धता बनी रहती है और स्थान भी कम घिरता है। 'द्वार' रोमन में DWARA लिखा जाएगा, जिसमें अशुद्धि की आशंका के साथ-साथ स्थान भी अधिक लगता है।

(8) **'देवनागरी लिपि' की प्राचीनता'** इसकी एक अन्य विशेषता मानी जा सकती है। इस समय प्रचलित भारत की लिपियों में यह सर्वाधिक प्राचीन है। सातवीं शताब्दी से ही इसके प्रयोग के प्रमाण विभिन्न शिलालेखों, सिक्कों और ताड़पत्रों आदि में मिलने लगते हैं। इन संदर्भों में 'देवनागरी' का प्रयोग एकदम उसके शुरू होते ही नहीं होने लगा होगा। अवश्य ही वह (देवनागरी) पहले से ही प्रयोग में आनी शुरू हो चुकी होगी।

(9) साहित्य, काव्य, शास्त्र और अन्य विविध प्रकार की सामग्री के विशाल भंडार की दृष्टि से विचार किया जाएं तो **'देवनागरी'** एक अत्यन्त समृद्ध और सक्षम लिपि प्रमाणित होती है। हजारों वर्ष का प्राचीन वैदिक वाङ्मय, उपनिषद, दर्शन, पुराण, संस्कृत का विपुल साहित्य, साहित्यशास्त्र, प्राकृत तथा अपभ्रंश की असंख्य रचनाएँ और बौद्ध एवं जैन रचनाकारों का अपार साहित्य—यह सब कुछ आज 'देवनागरी लिपि' में प्राप्त है। यहाँ तक कि भारत के असंख्य अहिन्दी भाषी रचनाकारों की अन्यान्य भाषाओं में प्रस्तुत की गयी रचनाएँ भी आज मूल पाठ और अर्थभाष्य-व्याख्या सहित 'देवनागरी लिपि' में प्राप्त हैं। इस बात का अनुमान लगा पाना सहज नहीं कि कब, किस-किस युग में किन-किन सरस्वती-पुत्रों ने **'देवनागरी लिपि'** के इस अथाह भंडार को भरने में कितनी साधना से योगदान किया होगा।

(10) 'देवनागरी लिपि' की एक अन्य विशेषता है—लेखन और मुद्रण (लिखाई और छपाई) में एकरूपता। रोमन लिपि के विद्यार्थी को उसके कई भिन्न रूप सीखने और प्रयोग में लाने पड़ते हैं। हर वर्ण के बड़े और छोटे (Capital कैपिटल तथा Small स्माल) रूप जानना आवश्यक है। फिर हाथ से लिखने में रोमन का जो रूप प्रयुक्त होता है, टंकण और मुद्रण में उससे भिन्न दूसरा रूप अपनाया जाता है। फारसी लिपि के हस्तलेख तथा मुद्रित रूप में भी भिन्नता रहती है। देवनागरी में इस प्रकार की कोई भिन्नता नहीं उसे जिस रूप में टंकित या मुद्रित किया जाता है, उसी रूप में हाथ से लिखा भी जाता है।

(11) देवनागरी लिपि में कोई भी शब्द जिस प्रकार बोला जाता है उसी प्रकार लिखा जाता है। अर्थात् प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण के साथ-साथ लेखन में भी उसका उपयोग किया जाता है। परन्तु संसार की कई लिपियों में मौखिक और लिखित रूपों में अन्तर रहता है। जैसे रोमन लिपि में 'Knife, Palm, Pspychology, Physics' आदि में क्रमशः आरम्भ का 'K' मध्य का 'L' आरम्भ का 'Ps' और Ph आदि ध्वनियों का उच्चारण नहीं होता, पर लिखा जाता है।

(12) 'देवनागरी लिपि' लिखावट में सुन्दरता, सुडौलता तथा कलात्मकता लिये हुए है। वर्णों की बनावट में 'पाई' की पद्धति इसे सरलता से सीखने में सहायता देती है। जैसे, ा को आसान के, ͣ जोड़कर घ,ͨ जोड़कर च आदि अन्य वर्णों का रूप दिया जा सकता है। अधिकांश वर्ण गोलाई लिये हुए हैं जिन्हें कलात्मक साँचे में ढालकर प्रस्तुत करना सुगम है। इसके वर्ण स्थान भी कम घेरते हैं 'सर्वेश्वर' लिखने में SAVESHWARA लिखने से कम स्थान लगता है।

देवनागरी का मानकीकरण तथा समस्याएँ एवं समाधान

देवनागरी लिपि के पूर्णतया वैज्ञानिक और विभिन्न विशेषताओं से मंडित होने पर भी, निरंतर बदलती भाषिक अपेक्षाओं की कसौटी पर, कहीं-न-कहीं उसकी कुछ न्यूनताएँ या सीमाएँ आड़े आ जाना स्वाभाविक था। उदाहरणतया, (1) विश्व की अन्य अनेक लिपियों की तुलना में नागरी की वर्णमाला बहुत लम्बी (बड़ी) है। इसकी वर्ण संख्या-स्वर, व्यंजन, मात्राएँ, अर्द्धाक्षर, संयुक्ताक्षर आदि मिलाकर बहुत अधिक हो जाती हैं। एक-एक व्यंजन का अन्य व्यंजनों से संयोग होने पर यह संख्या चार सौ से भी ऊपर जा पहुँचती है। (2) नागरी 'श' ध्वनि के लिए 'ष' वर्ण भी मौजूद है। यह भ्रम उत्पन्न करता है। (3) कुछ वर्णों की बनावट अत्यन्त जटिल है, जैसे 'क्ष' (इसका 'ज्ञ' से भ्रम हो सकता है), 'छ' ('घ' से भ्रम सम्भव है।) (4) कहीं वर्णों की दो-दो प्रकार की लिखावट होना भ्रांतिजनक है—अ-अ, रा-ण, श-श, ल-ल, झ-झ इत्यादि। (5) कुछ वर्णों की बनावट इतनी मिलती-जुलती है कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण का बोध हो सकता है—मं-भ, ध-घ, रव (नीरव)-ख (भीख) आदि। (6) शिरोरेखा की अनिवार्यता के कारण इसके लेखन में अनावश्यक समय लगता है। (7) मात्रा-व्यवस्था अव्यवस्थित-सी है—कोई दायें (ा), कोई बायें (ि), कोई ऊपर (े) कोई नीचे (ु)—इससे एकरूपता नहीं रहती, स्थान अधिक लगता है, वैज्ञानिकता भी नहीं रहती। (8) नासिक्य उच्चारण में कहीं पंचम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्) और कहीं अनुस्वार (ं) या अनुनासिक (ँ) का प्रयोग अनावश्यक उलझन

पैदा करता है। (9) स्वरों की इतनी अधिक संख्या अनावश्यक है। जब किसी एक व्यंजन के साथ मात्राएँ जोड़कर का, की, के, को आदि विभिन्न रूप बन सकते हैं, तो केवल एक स्वर 'अ' के साथ मात्राएँ जोड़कर आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै आदि अन्य स्वर भी बन सकते हैं। इस दृष्टि से इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ स्वर अनावश्यक प्रतीत होते हैं। (10) 'ऋ' का उच्चारण प्रायः 'रि' व्यंजन-अक्षर की तरह होता है, अतः इसे स्वरों में रखने की जरूरत नहीं। (11) रेफ (र) के संयुक्त रूप कई तरह से बनाये जाते हैं–क्रम (्र) : नीचे बाईं 'ओर'; कर्म (र्): ऊपर अगले अक्षर पर; राष्ट्र (्र) : व्यंजन के नीचे दोनों ओर झुका हुआ इत्यादि।

इस प्रकार की विभिन्न न्यूनताओं की ओर, उन्नीसवीं शताब्दी तक अधिक ध्यान इस कारण न गया, क्योंकि तब तक मुद्रण, टंकण आदि की शुरुआत नहीं हुई थी; अधिकांशतया हस्तलिखित अक्षर-विन्यास में थोड़ी-बहुत अव्यवस्था संभावित जानकर इसे टाल दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, तब तक प्राचीन आर्यभाषा संस्कृत को छोड़कर अन्य मध्ययुगीन और परवर्ती आर्यभाषाओं में ध्वनि-विकास (परिवर्तित उच्चारण) (श>स, ख, न>ण, व>ब, य>ज आदि) की प्रवृत्ति आ जाने से, उनके लिपि-विन्यास में भी थोड़ी-बहुत अव्यवस्था स्वाभाविक थीं। परन्तु, उन्नीसवीं शताब्दी में युगांतर के कारण भाषा और लिपि की समरूपता (उनके मानकीकरण) की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

तदनुसार, देवनागरी लिपि के मानकीकरण के अनेक व्यक्तिगत एव संस्थागत प्रयास हुए जिनका क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

(1) काल-क्रम की दृष्टि से, देवनागरी में सुधार लाने की पहल करनेवालों में मराठी विद्वान **महादेव गोविंद राणोडे** (सन् 1986) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने नागरी वर्णमाला यथासम्भव संक्षिप्त करने पर बल दिया।

(2) **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक** ने सन् 1904 ई. में नागरी-सुधार के प्रति चेतना जगाई। इसके चार-पाँच सौ वर्ण-रूपों को मुद्रण की दृष्टि से घटाकर उन्होंने 190 मुद्राक्षरों तक सीमित करने में सम्भावित सफलता पाई। इस कार्य में उन्हें लगभग दो दशक तक परिश्रम करना पड़ा। सन् 1926 ई. में पहली बार 190 मुद्राक्षरों वाला 'तिलक' फांट मुद्रण-जगत के सामने आया।

(3) इसी बीच, महाराष्ट्र में ही, **सावरकर बंधुओं** (बीसवीं शताब्दी, प्रथम दशक) ने देवनागरी वर्णमाला को छोटा बनाने के लिए अपने सुझाव प्रस्तुत किए। केवल एक ही स्वर 'अ' रखकर, उसी में मात्राएँ लगाकर अन्य स्वरों की रचना करने का आग्रह सर्वप्रथम उन्हीं का था जो महाराष्ट्र में तुरन्त मान्यता मिली।

(4) **महाराष्ट्र साहित्य परिषद्**, पुणे (बीसवीं शताब्दी, प्रथम दशक) द्वारा गठित लिपि सुधार समिति ने सावरकर बंधुओं के 'अ' स्वर-केन्द्रित सुझाव को व्यावहारिक रूप देते हुए, उसी के अनुसार अनेक पाठ्य पुस्तकें छपवाईं।

(5) काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आरम्भिक सचिव डॉ. **श्यामसुन्दर दास** ने कवर्ग और चवर्ग के पंचमाक्षर (ङ्-ञ्) को हटाकर इनकी जगह अनुस्वार (ं) के प्रयोग का सुझाव दिया। शङ्का>शंका, चञ्चल>चंचल।

(6) **डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी** ने देवनागारी लिपि को कथित रूप से अव्यावहारिक घोषित करते हुए, इसे पूर्णतया छोड़ देने की बात कही। इसके स्थान पर उन्होंने 'रोमन लिपि' के प्रयोग का पक्ष लेते हुए, कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'इंडोरोमन अल्फ़ाबेट' (भारोपीय वर्णमाला) नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई; किन्तु उन्हें शिक्षा और साहित्य जगत से अपेक्षित समर्थन न मिल पाया।

(7) प्रयाग के एक विद्वान डॉ. **गोरखप्रसाद** ने मात्राओं की असंगति दूर करने के उद्देश्य से यह सुझाव दिया कि सभी मात्राएँ सम्बद्ध व्यंजनों के साथ सटाकर लिखने (की-के आदि) की बजाय अलग हटाकर, दाईं और बीचोबीच डाली जाएँ (क ै स ा, द ू सर ा इत्यादि)।

(8) काशी के एक अन्य विद्वान **श्री श्रीनिवास** ने देवनागरी वर्णमाला में से महाप्राण व्यंजनों (ख, घ, छ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ) को एकदम निकाल देने का प्रस्ताव किया। उनका सुझाव था कि अल्पप्राण व्यंजनों के नीचे एक विशेष चिह्न (ऽ या ह) लगाकर इसे महाप्राणत्व का सूचक मान लिया जाए। (जैसे-घर>गऽर थाना ताऽना) इस सुझाव को भी कहीं से समर्थन न मिल पाया।

(9) प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक **डॉ. बाबूराम सक्सेना** ने जनवरी, सन् 1932 ई. में 'देवनागरी लिपि तथा हिन्दी अक्षर विन्यास' नामक लेख लिखकर हिन्दी-जगत से अनुरोध किया कि इस दिशा में यथाशीघ्र कोई सर्वसम्मत निर्णय लिया जाय ताकि अनिश्चितता की स्थिति समाप्त हो सके।

(10) उपर्युक्त विविध प्रयासों से देवनागरी लिपि के मानकीकरण के मामले ने एक ज्वलंत समस्या का रूप ले लिया। इसलिए 25-26 जून, सन् 1935 ई. को, इंदौर में आयोजित **'हिन्दी साहित्य सम्मेलन'** के अधिवेशन में इस विषय पर विस्तार से विचार-विमर्श हुआ। महात्मा गांधी की अध्यक्षता में एक **'लिपि सुधार समिति'** गठित की गई जिसके संयोजक **आचार्य काका कालेलकर** बनाये गये। इस समिति ने, अब तक के सभी प्रस्तावित सुझावों पर भलि-भाँति विचार करने

के बाद अपनी ओर से अनेक उपयोगी सुझाव दिए जिनमें से कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे–

(i) शिरोरेखा की अनिवार्यता हटा दी जाए। मुद्रण में भले ही यह बनी रहे (क्योंकि उसमें तो सभी मुद्राक्षर एक बार ढल जाएँगे) परन्तु हस्तलेखन में उसकी आवश्यकता नहीं (ताकि समय की बचत हो) तर्क यह दिया गया कि बंगला और गुजराती में भी शिरोरेखा का प्रयोग नहीं होता।

(ii) ह्रस्व 'इ' की मात्रा (ि) व्यंजन की बाईं तरफ लगाने की बजाय दाईं तरफ़ सम्बद्ध व्यंजन सटाकर लिखी जाए जबकि दीर्घ 'ई' की मात्रा (ी) सम्बद्ध व्यंजन से हटी रहे–किसी>कसिी।

(iii) केवल एक मूल स्वर 'अ' रखा जाए। अन्य स्वर उसी में मात्रा जोड़कर बनाए जाएँ–अि-अी, अु-अू, अे-अै आदि।

(iv) संयुक्त 'र' यदि पहले उच्चरित हो (कर्म), तो वह पूर्ववर्ती और परवर्ती व्यंजन के मध्य अलग लिखा जाए–क ॅ म; यदि बाद में उच्चरित हो (भ्रम, क्रम) तो पूर्ववर्ती व्यंजन आधा और इसे (र को) पूरा लिखा जाए–भ्रम, क्रम।

(v) संयुक्त व्यंजन ऊपर-नीचे मिलाकर (सप्त) लिखने की बजाय बाएँ-दाएँ सटाकर (सप्त) लिखे जाएँ।

(vi) पाईवाले अक्षरों को संयुक्त करने के लिए पाई हटा दी जाए (ग, च, ज, त, न, म आदि) अक्षरों में हलंत लगाया जाए (क्, छ्, ट्, द्, ह् आदि)।

(vii) ध और भ को म से स्पष्टतयता भिन्न दिखाने के उद्देश्य से इनके शुरू में क्रमशः बाहर और भीतर गुजराती घुंडी बनाई जाए–ध, भ।

(viii) विरामचिह्न प्रायः अँगरेजी (रोमन) वाले रहें–, ; ! ? : परन्तु पूर्णविराम के लिए 'पाई' (।) ही प्रयुक्त हो।

(ix) अनुस्वार (ं) और अनुनासिक (ँ) की भ्राँति हटाने के लिए बिंदु की अपेक्षा शून्य का चिह्न अपनाया जाए। संस्कृत शब्दों के शुद्ध उच्चारण के लिए नासिक्य ध्वनि के लिए पंचमाक्षर (ङ् ञ्–शङ्का, चञ्चल आदि) का प्रयोग किया जा सकता है।

(x) श्र, श, ल की बजाय अ, श, ल ही रखे जाएँ।

(xi) 'ऋ' के स्थान पर 'रि' का प्रयोग किया जाए–ऋण>रिण।

(xii) 'ष' वर्ण अनावश्यक है, इसे हटा दिया जाए। 'श' से काम चल सकता है।

(xiii) विसर्ग (:) को भी हटा दिया जाए। इसकी जगह 'ह्' का प्रयोग हो–अतः<अतह्।

(xiv) ख को ष (ष से भिन्न, प में दाएँ से बाएँ / रेखा देकर) लिखा जाए। इससे 'रव' वाली भ्रांति नहीं रहेगी।

(11) दूसरी ओर, सन् 1945 में, **नागरी प्रचारिणी सभा,** काशी ने 'अ' को ही मूल अक्षर माननेवाला सुक्षाव अस्वीकृत कर दिया और परम्परागत सभी स्वर मान्य ठहराए। इसी प्रकार श्री श्रीनिवास का यह सुझाव भी अमान्य कर दिया गया कि अल्पप्राण व्यंजनों के नीचे चिह्न लगाकर उनसे महाप्राण ध्वनियों का बोध कराया जाए।

(12) आजादी (15 अगस्त, 1947) से, दो सप्ताह पूर्व अर्थात् 31 जुलाई, 1947 ई. को उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रांत) की तत्कालीन अंतरिम सरकार ने प्रसिद्ध विद्वान और भाषाविद् आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस **'नरेंद्रदेव समिति'** ने गहन विचार-विमर्श के उपरांत, परम्परागत रूप से प्रचलित देवनागरी वर्णमाला में, मुद्रण-सुविधा और वैज्ञानिकता की दृष्टि से, केवल वही कुछेक परिवर्तन सुझाए जिनसे नागरी के लोक-व्यवहार और उपलब्ध अपार नागरी साहित्य पठन-पाठन में असुविधा न हो। उदाहरणतया—शिरोरेखा बनी रहे, अनुस्वार के स्थान पर शून्य अनुनासिक के स्थान पर बिन्दु ॱ तथा संस्कृत शब्दों में अर्थ-संगति की दृष्टि से ङ् ञ् आदि का प्रयोग, ऋ का प्रयोग यथावत, पाईवाले अक्षरों की पाई हटाकर हलंत रूप बनाना, ह्रस्व 'इ' की मात्रा दाईं ओर रहे और दीर्घ 'ई' की मात्रा (ी) का निचला सिरा तनिक दाईं ओर मुड़ा रहे (ी), अ, छ, झ, ण, ध, भ, ल, रूप मान्य—अन्य नहीं; क्ष की बजाय क्ष और त्र की बजाय त्र; पूर्णविराम के लिए पाई (।) को छोड़कर अन्य विरामचिह्न अँग्रेजी (रोमन) के समान।

(13) सन् 1953 ई. में पुनः उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से देश-भर के विद्वानों की एक सभा बुलाकर इस मामले को अंतिम रूप देने का प्रयास किया गया। उस सभा में, दो-तीन मामूली संशोधनों को छोड़कर अन्य बातें 'नरेंद्रदेव समिति' के सुझावानुसार मान ली गईं।

वास्तव में, मानकीकरण की सबसे बड़ी कसौटी लोक-प्रयोग है। उपर्युक्त समितियों के जिन सुझावों को लोक-व्यवहार में स्वीकृति मिल गई है, वे मान्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन कुछ परिवर्तनों से अब देवनागरी पूर्णतया एक मानक लिपि बन चुकी है। इसका वर्तमान रूप इस प्रकार है—

(1) हिन्दी में दीर्घ ॠ नहीं चलता, अतः इसे स्वरों में सम्मिलित नहीं किया गया।

(2) खड़ी पाई वाले व्यंजनों का संयुक्त रूप खड़ी पाई हटाकर ही बनाया गया है—भक्त, तख़्त, प्राप्त। छ, ट, ठ, ड, ढ, द और ह के संयुक्ताक्षर हलंत लगाकर बनाए जाते हैं (उच्छ्वास, लट्ठ, शरद्, आह्लाद)।

(3) अ, ख, ध, भ, झ और ण इन रूपों को मानक मानकर अन्य प्रचलित रूप छोड़ दिए गए हैं।

(4) मराठी ळ को वर्णमाला में स्थान दिया गया है।

(5) र के चारों रूप मान्य हैं। जैसे—भारत, व्रत, राष्ट्र, धर्म।

(6) प्रायः सभी विराम-चिह्न अंग्रेजी से यथावत ले लिए गए हैं, किंतु पूर्णविराम-चिह्न (।) ही रखा गया है।

(7) क्ष, ज्ञ और श्र यथावत हैं। किन्तु ल या त्र के स्थान पर त्र मान्य है।

(8) स्वर या मात्राएँ पूर्ववत हैं। हाँ, विसर्ग के चिह्न (:) को ही कोलन का चिह्न माना जाता है।

इन संशोधनों के पश्चात् देवनागरी के मानकीकरण का भारत सरकार द्वारा स्वीकृत जो रूप प्रचलित हो रहा है, वह इस प्रकार है—

स्वर—अ आ ऑ इ ई उऊ ऋ ए ऐ ओ औ अं अः

मात्राएँ— ा ि ी ु ू े ै ो ौ ं :

व्यंजन—क (क़) ख (ख़) ग (ग़) घ ङ

च छ ज (ज़) झ ञ

ट ठ ड (ड़) ढ (ढ़) ण

त थ द ध न

प फ (फ़) ब भ म

य र ल (ळ) व

श ष स ह

क्ष त्र ज्ञ श्र।

देवनागरी लिपि की समृद्धि का पता इसी से चल जाता है कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य एवं हिन्दी तथा उसकी उपभाषाओं—अथवा मैथिली, मगही, बाँगरू और राजस्थानी आदि का समूचा साहित्य इस लिपि में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त पश्चिम-दक्षिण की एक समृद्ध भाषा मराठी भी इसी लिपि में लिखी जाती है। गुजराती भाषा की लिपि देवनागरी से थोड़ी ही भिन्न है। बंगला, गुरुमुखी (पंजाबी) लिपि और टाकरी लिपियों की अक्षरमाला का भी देवनागरी से बहुत निकट का साम्य प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि देश के बहुत बड़े भाग की जनता,

चाहे वह पूर्णतः हिन्दी-भाषी नहीं भी है, देवनागरी लिपि को सरलतापूर्वक समझ और अपना सकती है। इसी कारण अनेक भाषावैज्ञानिक और लिपि-विशेषज्ञ इस बात का प्रबल आग्रह करने लगे हैं कि भारत की सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी मान ली जाए। यह भारत की भावात्मक राष्ट्रीय एकता के लिए उपयुक्त भी है।

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार, 'देवनागरी लिपि में उसकी ऐतिहासिक महत्ता के अतिरिक्त और भी विशेष गुण हैं।' इसी प्रकार विश्व की अनेक लिपियों के विशेषज्ञ राहुल सांकृत्यायन का सुनिश्चित मत था कि देवनागरी दुनिया की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि है। गांधीयुग के वरिष्ठ संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर की मान्यता थी कि 'नागरी वर्णमाला के समान सर्वांगपूर्ण अन्य कोई वर्णमाला नहीं है। इसीलिए हिन्दी के मूर्धन्य प्रयोगवादी कवि, उपन्यासकार पत्रकार एवं विचारक श्री अज्ञेय ने यह मत प्रकट किया था कि देवनागरी लिपि में सभी भारतीय भाषाएँ लिखी जाने पर, भेदभाव की दीवारें समाप्त हो जाएँगी।' डॉ. वी. के.आर.वी. राव के कथनानुसार 'यदि विभिन्न भारतीय भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाएँ तो उन्हें हर भारतीय आसानी से सीख सकेगा।'

देवनागरी अंकों का विकास और अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप

यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि देवनागरी लिपि के मानकीकरण की प्रक्रिया में अंकों की एकरूपता और सर्वमान्यता भी स्थापित होनी चाहिए। यह अखिल भारतीय स्तर पर तो आवश्यक है ही—साथ-ही-साथ भारतीय देवनागरी में ऐसे अंकों के प्रतीक चिह्नों का निर्माण होना चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सर्वमान्य हों।

समूची भाषा नीति को ध्यान में रखते हुए संविधान सभा में, भारतीय संविधान के अन्तर्गत हिन्दी को राजभाषा घोषित करने वाला प्रस्ताव लाने वाले दक्षिण भारतीय नेता और विद्वान श्री गोपाल स्वामी आयंगार थे। संविधान सभा में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और देवनागरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को लेकर कई दिन तक लम्बी बहस चली। उसका समापन श्री गोपाल स्वामी आयंगार तथा गुजरात के श्री कन्हैयालाल माणिकलाल द्वारा प्रस्तुत किए गए फार्मूले के रूप में हुआ। 'मुंशी-आयंगार फार्मूला' नाम से प्रसिद्ध इस प्रस्ताव के मसौदे में कहा गया—

"हमारी मूल नीति यह होनी चाहिए कि संघ के कामकाज के लिए हिन्दी देश की सामान्य भाषा हो और देवनागरी सामान्य लिपि हो। मूल नीति का यह भी एक मुद्दा है कि सभी संघीय प्रयोजनों के लिए वे अंक काम में लाए जाएँ जिन्हें भारतीय अंक का अन्तर्राष्ट्रीय रूप कहा गया है।"

इस प्रकार संस्कृत से प्रचलित और स्वीकृत अंकों को हिन्दी देवनागरी के अंकों के रूप में विकसित करके उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एकरूपता और सर्वमान्यता प्रदान की गयी। इन अंकों का दोनों रूपों में परिचय निम्नलिखित है–

अंकों की विवरण तालिका

भारतीय देवनागरी रूप		अन्तर्राष्ट्रीय रूप
एक	१	1
दो	२	2
तीन	३	3
चार	४	4
पाँच	५	5
छः	६	6
सात	७	7
आठ	८	8
नौ	९	9
दस	१०	10

•••

महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखंड विश्वविद्यालय की पाठ्य पुस्तक

बी. ए. प्रथम वर्ष (हिन्दी भाषा) प्रथम प्रश्न पत्र

संपादन डॉ. शंकर लाल शर्मा

भाषा
प्रकृति, स्वरूप और ऐतिहासिक परिदृश्य

डॉ. रामप्रकाश, डॉ. दिनेश गुप्त

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद